इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BSKC-134
संस्कृत व्याकरण

संस्कृत व्याकरण

खंड 1
संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण 5

खंड 2
सन्धि प्रकरण 53

खंड 3
समास प्रकरण 135

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

प्रो. रमाकान्त पाण्डेय
निदेशक, मुक्त स्वाध्याय पीठ
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
नई दिल्ली

प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कला संकाय
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. रंजन कुमार त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. देवेश कुमार मिश्र
सहायक प्रोफेसर, मानविकी विद्यापीठ
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रो. सत्यकाम
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक

डॉ. वैकुण्ठ नाथ शुक्ल
असि. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
नेहरू मेमोरियल शिव नारायण
दास पी.जी. कॉलेज बदायूँ

इकाई संख्या

खंड 1 (1, 2, 3)

डॉ. धनंजय कुमार आचार्य
एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

खंड 2 (4,5,6,7,8)

डॉ. पंकज कुमार व्यास
एसो. प्रोफेसर, केन्द्रीय संस्कृत
विश्वविद्यालय, तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश

खंड 3 (9,10,11,12)

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. देवेश कुमार मिश्र
एसो. प्रोफेसर, संस्कृत
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम सम्पादक

डॉ. पुष्पा (इकाई 9,10)
एसो. प्रोफेसर, संस्कृत

डॉ. अर्पिता त्रिपाठी (इकाई 1-8, 11,12)
परामर्शदाता (संस्कृत)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली

सामग्री निर्माण

श्री तिलक राज
सहायक कुल सचिव (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि. प्र. इग्नू, नई दिल्ली

श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
सा.नि. एवं वि. प्र. इग्नू, नई दिल्ली

मार्च, 2021

©इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

मानविकी विद्यापीठ एवं इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के बारे में विश्वविद्यालय कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग, इग्नू द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित
लेजर टाइप सेटिंग : टेसा मीडिया एण्ड कंप्यूटर, C-206, A.F.Enclave-II, नई दिल्ली
मुद्रक :

पाठ्यक्रम परिचय

बी.ए. (सामान्य) संस्कृत के विद्यार्थी के रूप में अब आप BSKC-134 संस्कृत व्याकरण पाठ्यक्रम का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य आपको व्याकरणिक सूत्रों एवं तथ्यों से परिचित कराना है जिसके आधार पर आप संस्कृत भाषा के व्याकरण को समझकर सन्धि, समास, विभक्ति आदि विषयों को समझने की क्षमता का विकास कर सकेंगे। इस पाठ्यक्रम में कुल 12 इकाइयाँ हैं। यह पाठ्यक्रम 6 क्रेडिट का है।

संस्कृत व्याकरण का यह पाठ्यक्रम तीन खण्डों में विभाजित है। इस पाठ्यक्रम का प्रथम खण्ड संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित है। इस खण्ड में संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

इस पाठ्यक्रम का द्वितीय खण्ड सन्धि प्रकरण से सम्बन्धित है। सन्धियाँ तीन हैं – अच् सन्धि, हल् सन्धि और विसर्ग सन्धि। इस खण्ड में आप इन सन्धियों से सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

इस पाठ्यक्रम का तृतीय खण्ड समास प्रकरण से सम्बन्धित है। समास पाँच हैं – केवल समास, अव्ययीभाव समास, तत्पुरुष समास, बहुव्रीहि समास तथा द्वन्द्व समास। इस खण्ड में आप इन समासों से सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

आशा है कि BSKC-134 संस्कृत व्याकरण का यह पाठ्यक्रम आपको संज्ञा, विभक्त्यर्थ, सन्धि, समास को समझने में सहायक होगा। सम्पूर्ण पाठ्यक्रम की पाठ्य-सामग्री निम्न ढंग से प्रस्तुत की गई है:

1)	संज्ञा एव विभक्त्यर्थ प्रकरण	3 सन्धियाँ
2)	सन्धि प्रकरण	5 इकाइयाँ
3)	समास प्रकरण	4 इकाइयाँ
		कुल 12 इकाइयाँ

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BSKC-134
संस्कृत व्याकरण

खंड

1

संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई 1
संज्ञा प्रकरण – भाग 1 7

इकाई 2
संज्ञा प्रकरण – भाग 2 23

इकाई 3
विभक्त्यर्थ प्रकरण 37

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

खण्ड 1 का परिचय

संस्कृत व्याकरण पाठ्यक्रम का यह प्रथम खण्ड है। इस खण्ड में तीन इकाइयाँ हैं। खण्ड की ये सभी इकाइयाँ संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित हैं। इन इकाइयों में संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण के सूत्रों की व्याख्या की गई है। इस खण्ड की पहली इकाई में संज्ञा प्रकरण के मुखनासिकाक्वनोऽनुनासिकः तक के सूत्रों को वृत्ति, अनुवाद एवं व्याख्या के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस इकाई के माध्यम से आप प्रत्याहार, इत्संज्ञक वर्णों, इत्संज्ञा और लोप की प्रक्रिया का अध्ययन कर सकेंगे।

इस खण्ड की दूसरी इकाई में आप तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् सूत्र से लेकर सुप्तिङन्त पदम् तक के सूत्रों का अध्ययन करेंगे। इन सूत्रों के माध्यम से आप सवर्ण संज्ञा, वर्णों का उच्चारण स्थान, प्रयत्न, संहिता, संयोग और पदसंज्ञा का अध्ययन कर सकेंगे।

इस खण्ड की तीसरी इकाई विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित है। आप जानते हैं कि कारक छः हैं और विभक्तियाँ सात हैं। षष्ठी विभक्ति कारक में परिगणित नहीं है क्योंकि सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। इस इकाई के माध्यम से आप कारक विभक्ति एवं उपपद विभक्ति से सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

इस खण्ड की प्रत्येक इकाई में इकाई से सम्बन्धित कठिन शब्दावली दी गई है जिनका अर्थ जानना आपके लिए नितान्त अपेक्षित है, इन शब्दों का अर्थ जानकर आप अपने भाषिक सामार्थ्य में वृद्धि कर सकते हैं। इकाइयों के अन्त में उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। आप इन पुस्तकों का अध्ययन कर सम्बन्धित विषय की और अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

शुभकामनाओं के साथ

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 संज्ञा प्रकरण – भाग 1

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मङ्गलाचरणम्..... मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः सूत्र तक।

1.3 सारांश

1.4 शब्दावली

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- चौदह माहेश्वर सूत्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्तर्गत **अच्** एवं **हल्** वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- 'हलन्त्यम्' सूत्र की व्याख्या एवं तदाश्रित 'उपदेश' पद का अर्थ जान सकेंगे।
- आद्योच्चारण का तात्पर्य-ज्ञान कर सकेंगे।
- 'अदर्शनं लोपः' सूत्र का विस्तृत ज्ञान कर सकेंगे।
- 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के माध्यम से प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया का ज्ञान कर सकेंगे।
- स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद-प्रभेदों को जान सकेंगे।
- अनुनासिक एवं निरनुनासिक (या अननुनासिक) वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

लौकिक या पारलौकक व्यवहार का मूल माध्यम संज्ञायें ही हैं। स्वयं आचार्य यास्क ने इनका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है–**''संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।''** अतः व्याकरणशास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थ वरदराजाचार्य–कृत 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में भी सर्वप्रथम संज्ञाप्रकरण की व्यवस्था की गयी है।

यहाँ पर स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है कि आज हम जिस व्याकरणशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन कर रहे हैं, उसे माहेश्वर व्याकरण या पाणिनीय व्याकरण कहा जाता है। भगवान् शिव की अमोघ कृपा से आचार्य पाणिनि को 'अइउण्' आदि चौदह सूत्रों की प्राप्ति हुई और इन्हीं सूत्रों के आधार पर आचार्य पाणिनि ने लगभग 4000 सूत्रों के विस्तृत कलेवर से समृद्ध, आठ अध्यायों में निबद्ध, बत्तीस पादों से युक्त समलङ्कृत 'अष्टाध्यायी' नामक वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित शब्दशास्त्र (व्याकरण) का विद्वज्जनोपकार हेतु प्रणयन किया। आज सम्पूर्ण विश्व में इसी ग्रन्थ-रत्न को व्याकरण का आधार ग्रन्थ मानकर पठन-पाठन चल रहा है।

वैसे तो, आचार्य पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। उनकी कृति में किसी प्रकार की न्यूनता सम्भव ही नहीं है। फिर भी महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने परवर्तियों पर अनुग्रह करके कुछ न कुछ कहने का अवसर प्रदान ही कर देते हैं। इसी क्रम में अष्टाध्यायी के कुछ सूत्रों की पूर्णता के लिए आचार्य कात्यायन ने पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिकों की रचना की और तदनन्तर सूत्रों और वार्तिकों की विशद् व्याख्या के रूप में महाभाष्यकार शेषावतार आचार्य पतंजलि ने 84 आह्निकों के सुविस्तृत कलेवर वाले 'महाभाष्य' नामक अत्यन्त बृहद् ग्रन्थ की रचना की। उपर्युक्त तीनों आचार्यों (पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि) को वैयाकरण परम्परा के 'त्रिमुनि' के नाम से जाना जाता है। इनके ग्रन्थों को सूत्रानुसारी परम्परा में गिना जाता है। इनके अतिरिक्त काशी के विद्वान् वामन-जयादित्य द्वारा लिखित 'काशिका' को भी इसी परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है। कुछ दिनों तक इसी क्रम से व्याकरण का पठन-पाठन चलता रहा किन्तु कालान्तर में शास्त्र के सरलीकरण की आवश्यकता अनुभव की गयी और प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। इस क्रम में आचार्य भट्टोजि दीक्षित का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने अष्टाध्यायी के सम्पूर्ण सूत्रों पर 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना करके लौकिक एवं वैदिक समाज का बहुत बड़ा उपकार किया। इन्हीं के शिष्य वरदराजाचार्य ने 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' एवं 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' की रचना की। प्रक्रियानुसार परम्परा के इन्हीं तीन ग्रन्थों को नव्य-व्याकरण का आधार माना जाता है।

अब हम पुनः संज्ञा प्रकरण पर आते हैं। व्याकरण में संज्ञा, संज्ञक एवं संज्ञी का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया जाएगा। नाम को संज्ञा एवं नाम वाले को संज्ञक या संज्ञी कहते हैं, जैसे – किसी का नमा 'बैकुण्ठ' है तो 'बैकुण्ठ' यह शब्द संज्ञा है और जिस व्यक्ति का नाम 'बैकुण्ठ' है, वह संज्ञी या संज्ञक है। स्पष्ट है कि इस इकाई में विभिन्न सूत्रों के द्वारा अनेक व्याकरणोपयोगी संज्ञाओं का ज्ञान प्राप्त किया जायेगा, जिनका उपयोग शास्त्र के अनेक (सन्धि, समास, कारक, विभक्ति, कृदन्त, तद्धित आदि) प्रकरणों में यथास्थान किया जायेगा। अच्, हल्, इत्, लोप, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, संयोग, संहिता, पद आदि ऐसी ही संज्ञायें हैं, जिनका सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र में पदे-पदे उपयोग होता है। शेष ज्ञान इकाई के विस्तृत अध्ययन से स्वतः होगा।

1.2 मङ्गलाचरणम् ..... मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः सूत्र तक।

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई में आप लघुसिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ के मंगलाचरण और संज्ञा प्रकरण के सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

मङ्गलाचरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।।

अन्वय – अहम् (वरदराजः) शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि।

अर्थ – मैं (वरदराज) शुद्ध एवं प्रशस्त गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार कर पाणिनीय अष्टाध्यायी (नामक विस्तृत शास्त्र) में (सुकुमार मति बालकों के) प्रवेश के लिए (इस) लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना करता हूँ।

नोट : यहाँ पर आचार्य वरदराज ने गौण क्रिया 'नत्वा' के द्वारा ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को नमस्कार करके '**नमस्कारात्मक**' मङ्गलाचरण की सूचना दी। दूसरी ओर 'करोमि' इस मुख्य क्रिया के द्वारा 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' रूप विषय-वस्तु का उल्लेख कर '**वस्तुनिर्देशात्मक**' मङ्गलाचरण को भी बताया। यह लघुसिद्धान्तकौमुदी ही व्याकरण का प्रवेश द्वार है।

अब मङ्गलाचरण के पश्चात् यहाँ से ग्रन्थ की औपचारिक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

अथ संज्ञाप्रकरणम् –

अइउण्।।1।। ऋलृक् ।।2।। एओङ्।।3।। ऐऔच् ।।4।। हयवरट् ।।5।। लण्।।6।। ञमङणनम्।।7।। झभञ्।।8।। घढधष्।।9।। जबगडदश्।।10।। खफछठथचटतव्। ।।11।। कपय् ।।12।। शषसर्।।13।। हल्।।14।।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।

अर्थ – ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् भगवान् महादेव से प्राप्त हैं। इनका प्रयोजन 'अण्' आदि संज्ञा करना है। इन (चौदह सूत्रों) के अन्त्य (ण्, क्, ङ् आदि) वर्ण इत् संज्ञक हैं। (हयवरट् आदि सूत्रों के) टकारादिओं के साथ पठित अकार उच्चारण के लिए है परन्तु 'लण्' सूत्र के मध्य में पठित अकार इत् संज्ञक है।

व्याख्या – यह प्रसिद्धि है कि आचार्य पाणिनि अपनी विद्यार्थी अवस्था में बहुत मन्द बुद्धि थे। इनके गुरू आचार्य **वर्ष** के छोटे भाई **उपवर्ष**, जिन्होंने बोधायन वृत्ति लिखी, ने पाणिनि को भगवान् शिव की उपासना हेतु प्रेरित किया। अनन्तर भगवान् शिव ने इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ताण्डव नृत्य के पश्चात् 14 बार डमरू बजाया। इससे 14 सूत्र सुस्पष्ट रूप से पाणिनि को प्राप्त हुए। भगवान् शंकर से प्राप्त इन सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहा जाता है। **''महेश्वरात् आगतानि प्राप्तानि सूत्राणि माहेश्वर सूत्राणि।''** 'तत आगतः' सूत्र से अण् प्रत्यय होकर माहेश्वर पद बनता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये सूत्र आचार्य पाणिनि द्वारा कृत हैं। कुछ भी हो, ये सूत्र पाणिनीय व्याकरण के प्राण हैं, आधार हैं। इनका उपयोग आगे 'अण्', 'अच्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) के निर्माण में किया जायेगा। प्रत्याहारों में 'अण्' सबसे पहले या आदि में है; इसीलिए इसे **अणादि** कहा जाता है, यथा– ''अण् आदिर्येषां ता अणादयः, अणादयश्चताः संज्ञाः अणादिसंज्ञाः। अणादिसंज्ञा अर्थः प्रयोजनं येषां तानि इमानि अणादि संज्ञार्थानि।''

नियम 1 –एषामन्त्या इतः।।

अर्थ – इन चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्त में स्थित व्यञ्जन वर्ण (ण्, क्, ङ्, च्, ट् आदि) इत् संज्ञक होते हैं।

व्याख्या – इन चौदह माहेश्वर सूत्रों को अष्टाध्यायी की आधारशिला माना जाता है। इन्हीं के आधार पर आचार्य पाणिनि ने लगभग 4000 सूत्रों की रचना की। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में विद्यमान ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, श्, व, य्, ट्, ल् इन वर्णों की इत् संज्ञा होती है। प्रस्तावना खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन इत् संज्ञकों के बल से ही 'अण्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) का निर्माण किया जाता है। जो अन्त में हो

उसे 'अन्त्य' कहते हैं। 'अन्ते भवम् अन्त्यम्'। संज्ञा का अर्थ है – 'नाम''। इन चौदह अन्त्य वर्णों को 'इत्' कहा जाता है। 'इत्' नामक संज्ञा इनकी होगी अर्थात् ये 'इत्' नाम वाले कहलाते हैं। व्याकरण में संज्ञा, संज्ञक और संज्ञी का व्यवहार स्थान-स्थान पर किया गया है। नाम को संज्ञा और नाम वाले को संज्ञक या संज्ञी कहते हैं। जैसे किसी का नाम 'राम' है तो यह शब्द संज्ञा है और 'राम' नाम वाला शरीरधारी व्यक्ति संज्ञी है। इस प्रकार ण्, क्, ङ् आदि अन्त्य वर्ण इत्-संज्ञक हैं और 'इत्' यह इन वर्णों की संज्ञा है और भी सरल भाषा में कहें तो ण्, क्, ङ् आदि वर्ण-व्यक्ति हैं और इन वर्ण-व्यक्तियों का नाम हैं – 'इत्'। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य वर्णों की इत् संज्ञा करने का फल 'अण्' आदि प्रत्याहारों की सिद्धि करना ही है, जो आगे सविस्तार बताया जायेगा।

नियम 2 – हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः।।

अर्थ – (हयवरट् सूत्र से प्रारम्भ) हकार (ह्) आदि में विद्यमान अकार (मात्र) उच्चारण के लिए है।

व्याख्या – 'हकारादिषु' सप्तमी विभक्ति बहुवचन, 'उच्चारणार्थः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। माहेश्वर सूत्रों में जितने वर्ण हैं, उनको दो वर्गों में विभाजित किया गया है। वे हैं – स्वर (अच्) एवं व्यंजन (हल्)। 'रट्+लण्'। यहाँ ट् एवं ण् की इत्संज्ञा होकर लोप होगा तो 'र+ल्' यह स्थिति बनेगी। अब 'र' में अ उच्चारणार्थ ही है तो निकल जायेगा। तब 'र्' यह स्थिति होगी। पुनः 'ल्' में भी 'अ' इत् संज्ञक है तो हम 'र्' से 'अ' तक के वर्णों को ग्रहण करेंगे। 'र' से अ को मिलाने पर 'र्' प्रत्याहार बनेगा – र् ल् अ = र्। अब 'र' प्रत्याहार में दो वर्ण होंगे – 'र्' और 'ल्'। इसका प्रयोजन 'उरण् रपरः' आदि सन्धि स्थलों में चरितार्थ होता है।

नियम 3 – लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।

अर्थ – लण् (छठें सूत्र) के मध्य में स्थित अकार का है।

व्याख्या – 'लण्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'मध्ये' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'इत्सञ्ज्ञकः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। ऊपर बताया गया है कि चौदह माहेश्वर सूत्रों में हकार आदि में लगे हुए अकार केवल उच्चरण के लिए हैं क्योंकि बिना स्वर की सहायता से ह् य् व् र् आदि शुद्ध व्यंजनों का उच्चारण सम्भव नहीं है। अब यहाँ एक नयी बात सामने आ रही है 'लण्' सूत्र में विद्यमान 'अ' (ल्+अ+ण्) के उच्चारण के लिए तो है ही साथ-साथ एक प्रयोजन और भी है कि यह इत् संज्ञक भी है। अर्थात् जैसे – चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्त्य वर्णों (ण् क् आदि) की इत् संज्ञा होती है, वैसे ही 'लण' सूत्र में विद्यमान अकार भी इत् संज्ञक है। स्पष्ट है कि ल् के साथ जुड़े हुए 'अ' के दो रूप हैं। यह उच्चारणार्थक होने के साथ-साथ इत्-संज्ञक भी है। इसकी इत् संज्ञा करने का प्रयोजन 'र्' प्रत्याहार की सिद्धि करना है। जैसे – हम 'र्' प्रत्याहार की सिद्धि करना चाहते हैं तो हमें 'हयवरट्' के सूत्र के र् से लेकर लण् सूत्र के 'अ' तक के वर्णों को ग्रहण करना होगा।

सूत्र – हलन्त्यम् 1।3।3।।

वृत्ति – उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

अर्थ – उपदेश में वर्तमान अन्त्य हल् (व्यंजन) इत् संज्ञक हो। आद्यो (शिव, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि) का उच्चारण या कथन ही उपदेश है अथवा धातु आदि के आद्योच्चारण को उपदेश कहते हैं। सूत्रों में (जिन पदों की आवश्यकता हो किन्तु उपस्थित न हों) जो पद न हों (किन्तु वृत्ति में दिखाई दें) उन्हें पिछले या कहीं-कहीं अगले) सूत्र से ग्रहण कर लेना चाहिए।

व्याख्या – 'उपदेशे' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'अन्त्यम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'हल्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'इत्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। इस व्याकरणशास्त्र के प्रथम कर्ता आचार्य पाणिनि हैं। इन्होंने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत् प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में (8X4 = 32) बत्तीस पाद हैं। प्रत्येक पाद में सूत्रों की संख्या भिन्न-भिन्न है। इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है, यथा–

अध्यायनाम	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	सम्पूर्ण संख्या
प्रथमाध्याय	74	73	93	109	349
द्वितीयाध्याय	71	38	73	85	267
तृतीयाध्याय	150	188	176	117	631
चतुर्थाध्याय	176	144	166	144	630
पंचमाध्याय	135	140	119	160	554
षष्ठाध्याय	217	198	138	175	728
सप्तमाध्याय	103	118	119	97	437
अष्टमाध्याय	74	108	119	68	369
सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की सूत्र संख्या					3965

इस 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में भी अष्टाध्यायी के ही सूत्र बिखरे पड़े हैं। इन सूत्रों के आगे तीन अंक लिखे गये हैं। पहला अंक अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पाद का सूचक एवं तीसरा सूत्र सूचक है, यथा– 'हलन्त्यम् ।1।3।3।।' का तात्पर्य है कि यह सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का तीसरा सूत्र है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अब सूत्रों के अर्थ करने की पद्धति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

1) सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिए। जैसे– 'हलन्त्यम्– ।1।3।3।।' सूत्र में हल्, अन्त्यम्। 'आदिरन्त्येन सहेता ।1।1।70।।' सूत्र में आदिः, अन्त्येन, सह, इता आदि। सूत्रों की वृत्ति करते समय कहीं-कहीं पिछले सूत्रों से एवं कहीं-कहीं आगे के सूत्रों से भी पद ग्रहण कर लिए जाते हैं, जैसे– 'हलन्त्यम् ।1।3।3।।' सूत्र में पिछले सूत्र 'उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।1।1।2।।' से 'उपदेश' और 'इत्' पद का ग्रहण किया गया है। वृत्ति में आये हुए सभी पदों की विभक्ति एवं वचन पदच्छेद द्वारा स्पष्ट करना चाहिए।

2) पदच्छेद के बाद उन पदों की विभक्तियाँ जाननी चाहिये, जैसे 'हलन्त्यम्' सूत्र की वृत्ति में 'उपदेशे' सप्तमी विभक्ति एकवचन, अन्त्यम् प्रथमा विभक्ति एकवचन, हल् प्रथमा विभक्ति एकवचन, इत् प्रथमा विभक्ति एकवचन, आदि।

3) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात् समास जानना चाहिए। यह समास कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता है, यथा– 'तस्य लोपः' यह व्यस्त सूत्र है। यहाँ समास नहीं है। 'तुल्यास्यप्रयत्नं स्वर्णम्' आदि सूत्रों में समास है। ये सब यथास्थान स्पष्ट किये जायेंगे।

इन उपर्युक्त विवरणों या निर्देशों के पश्चात् सूत्रार्थ पर आते हैं। पीछे 'एषामन्त्या इतः' कहकर 'ण्', 'क्' आदियों को 'इत्' कहा गया है। अब सूत्रों के माध्यम से इनकी सिद्धि करते हैं। 'उपदेशे' सप्तमी विभक्ति एकवचन, (उपदेशेऽजनुनासिक इत् सूत्र से), 'अन्त्यम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'हल्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'इत्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, (उपदेशेऽजनुनासिक इत् सूत्र से)।

अर्थ – उपदेशे = उपदेश में विद्यमान, अन्त्यम् = अन्तिम, हल् = व्यंजन, इत् = इत् संज्ञक, स्यात् = हो। अर्थात् यदि उपदेश में कहीं भी अन्त्य हल् मिलेगा तो, वह 'इत्' संज्ञक हो। अब प्रश्न यह है कि उपदेश क्या है? काशिकाकार ने उपदेश के अन्तर्गत सूत्रपाठ एवं खिलपाठ (धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन) का ही समावेश किया है। कुछ विद्वान् सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, उणादि, लिङ्गानुशासन, वार्तिकपाठ, आगम, प्रत्यय और आदेश इन सभी को उपदेश मानते हैं। कहा भी है–

''धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेश उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।''

भाष्यकार पतंजलि ने सब स्थल नियत कर दिये हैं। उनका कथन है कि प्रत्याहार सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं। इनमें अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है। यथा–

''प्रत्ययाः शिवसूत्राणि, आदेशा आगमास्तथा।
धातुपाठो गणो पाठः, उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।''

नोट – यहाँ ''उपदेश आद्योच्चारणम्'' कहा गया। आद्योच्चारण ही उपदेश है। किसका? त्रिमुनियों का। पुनः शंका उठती है कि शास्त्र के निर्माण से पूर्व जो कुछ उन्होंने कहा, रोया, गाया वह भी शास्त्र है? तो, इसका समाधान है कि – ''आद्यत्वं नाम अज्ञाततत्त्वज्ञापकत्वम्'' अर्थात् शब्दशास्त्र में शब्दों का जो स्वरूप अज्ञात है, उसे सूत्र के माध्यम से ज्ञात करना ही आद्यत्व है।

संक्षेप में उपदेशों का उल्लेख कर देना समीचीन ही होगा।

i) **माहेश्वर सूत्र** –प्रथम शिवसूत्र 'अइउण्' के अन्त में विद्यमान हल् णकार है। अतः 'हलन्त्यम्' सूत्र से उसकी 'इत्' संज्ञा हुई है।

ii) **धातुपाठ** –'डुपचष् पाके' यह धातुपाठ मे पठित है। इसके अन्त्य हल् षकार की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई।

iii) **गणपाठ** –गणपाठ में आने वाले 'देवट्', 'नदट्' आदि शब्दों के अन्त्य टकार भी 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञक हैं।

iv) **प्रत्यय** –'अजाद्यतष्टाप्' आदि सूत्रों से विहित 'टाप्' प्रत्यय के अन्त्य पकार 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञक हुए।

v) **आगम** –'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से प्राप्त तुक् आगम का अन्त्य ककार भी 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञक हुआ।

vi) **आदेश** –'अवङ् स्फोटायनस्य' आदि सूत्रों से प्राप्त 'अवङ्' आदि आदेश के अन्त्य ङ्कार की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई।

विशेष –यहाँ पर शंका उपस्थित होती है कि सूत्र में व्याख्या के लिए 'उपदेश' पद की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका समाधान यही है कि यदि 'उपदेश' पद का विधान न किया जाता तो, लौकिक प्रयोगों में प्रचलित 'अग्निचित्त', 'सोमसुत्' आदि शब्दों के अन्त्य हल् की भी इत् संज्ञा होती और **'तस्य लोपः'** से उनका लोप प्राप्त होता। इसे रोकने के लिए ही ऐसा विधान किया गया।

सूत्र – अदर्शनं लोपः ।1।1।60।।

वृत्ति – प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

अर्थ – विद्यमान का अदर्शन (न सुनाई देना) लोप संज्ञक होता है।

व्याख्या – यहाँ पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'स्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है और विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त होकर 'स्थानस्य' हो जाता है। 'स्थानस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'अदर्शनं' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'लोपः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अब अर्थ हुआ (स्थानस्य) विद्यमान का (अदर्शनं) न सुनाई देना (लोपः) लोप कहलाता है। यहाँ अदर्शन संज्ञी तथा लोप संज्ञा है।

'दृश्' धातु यहाँ ज्ञानार्थक है। ज्ञान आँख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों से होता है किन्तु यह व्याकरणशास्त्र (शब्दानुशासन) का विषय है। अतः कानविषयक ज्ञान ही यहाँ ग्राह्य है क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय के विषय हैं न कि चक्षुरिन्द्रिय के। सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या में कहा गया है – ''अत्र दृशिर्ज्ञानसामान्यवचनः, दर्शनं ज्ञानम्, तदिह शब्दानुशासनप्रस्तावाच्छब्दविषयकं सत् श्रवणं सम्पद्यते।'' तो, विद्यमान का न सुनाई देना ही लोप होता है, जैसे कोई व्यक्ति सखान्, पद का उच्चारण करता है, किन्तु सुनने वाला नकार को नहीं सुनेगा। फलतः व्यवहार में केवल 'सखा' का प्रयोग होगा, न कि –सखान्' का।

नोट – ध्यान देने की बात है कि व्याकरणशास्त्र में शब्द को नित्य माना गया है। अतः 'लोप' का विनाश (विनष्ट होना) अर्थ लेने पर अनित्यता दोष आ रहा था। उसीको दूर करने के लिए 'प्राप्त या विद्यमान के न सुने जाने' को लोप कहा गया है। तो, लोप का यह अर्थ करने से शब्द की नित्यता बनी रहती है।

सूत्र – तस्य लोपः ।1।3।9।।

वृत्ति – तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

अर्थ – उस इत् संज्ञक का लोप होता है। ण् आदि अण् आदियों के लिए हैं।

व्याख्या – 'तस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'इतः' षष्ठी विभक्ति एकवचन ('उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से प्रथमान्त इत् पद आकर विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त (इतः) हो जाता है), 'लोपः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अर्थ हुआ – (तस्य) उस (इतः) इत् संज्ञक का (लोपः) लोप होता है। यहाँ पर 'तस्य' का अभिप्राय यह है कि – 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' 1.3.2 सूत्र से लेकर ('लशक्वतद्धिते' सूत्र तक की गई इत् संज्ञा से है। भावार्थ यह है कि जिसकी भी इत् संज्ञा हुई है, उसका 'तस्य लोपः' से लोप हो जायेगा। अब वह इत् संज्ञा चाहे 'हलन्त्यम्' सूत्र से की गयी हो या किसी अन्य सूत्र से। अतः 'तस्य' पद का प्रयोग होने से यह लोप सम्पूर्ण इत् संज्ञक का होता है, केवल अन्तिम इत् संज्ञक वर्ण का ही नहीं। उदारणार्थ – 'आदिर्ञिटुडवः' सूत्र से 'टुनदि' धातु के आदि 'टु' की इत् संज्ञा है और 'तस्य लोपः' से 'टु' का लोप होकर एवं नदि के दकारोत्तरवर्ती अनुनासिक अच् (इँकार) का 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप होकर केवल 'नद्' ही बचता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिन वर्णों की इत् संज्ञा हुई है, वे चाहे आदि, अन्त्य या मध्य कहीं भी हों, उनका लोप 'तस्य लोपः' से हो जाता है।

अब इस सूत्र से चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्त्य वर्णों ण्, क्, ङ्, च्, ट् आदि इतों का भी लोप प्राप्त होता है किन्तु इनका लोप नहीं करना है, क्योंकि इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे। यदि इनका लोप करना होता तो, इनका ग्रहण ही क्यों करते? अतः इनका लोप नहीं करना चाहिए। अब ण्, क् आदि इत् संज्ञकों से प्रत्याहार बनाने के लिए अग्रिम सूत्र लिखते हैं–

संज्ञा सूत्र – आदिरन्त्येन सहेता ।1।1।70।।

वृत्ति – अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा– अण् इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा। एवमच् हल् अल् इत्यादयः।

अर्थ – अन्त्य इत् (संज्ञक वर्ण) से युक्त आदि वर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी संज्ञा हो, जैसे– अण् यह अ इ उ वर्णों की संज्ञा है। इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल्, आदि भी जान लेने चाहिए।

व्याख्या – 'आदिः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अन्त्येन' तृतीया विभक्ति एकवचन, सह इत्यव्ययपदम्। 'इता' तृतीया विभक्ति एकवचन, 'स्वस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, (स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा सूत्र से 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्ते हो जाता है)। यह सूत्र संज्ञाधिकार में पढ़े जाने से संज्ञासूत्र है। यहाँ **'अन्त्येनेता सह आदिः'** अर्थात् **'अन्त्य इत् संज्ञक वर्ण के साथ आदि'** यह संज्ञा है। तो, अब संज्ञी का निर्णय करना है कि संज्ञी कौन है? 'आदि' और अन्त्य अवयव हैं। अवयवों से ही अवयवी का ज्ञान होता है। अतः वहाँ अवयवी ही संज्ञी होगा। उस अवयवी (समुदाय) से **आदि** और **अन्त्य** संज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे। शेष बचे मध्यगत वर्ण ही संज्ञी होंगे। 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति से 'आदि' पद भी संज्ञी हो जायेगा। इस प्रकार आदि और मध्यगत वर्ण भी संज्ञी होंगे। तो, अब सूत्रार्थ हुआ – ''(अन्त्येन) अन्त्य (इता) इत् से (सह) युक्त (आदिः) आदि वर्ण (स्वस्य) अपनी तथा मध्यगत (मध्य में स्थित) वर्णों की संज्ञा होता है, उदाहरणार्थ – 'अइउण्' सूत्र में अन्त्य वर्ण 'ण्' है और आदि वर्ण 'अ'। अतः अन्त्य इत् (ण्) से युक्त आदि 'अण्' हुआ। यह

संज्ञा है। मध्य में स्थित 'इ उ' तथा आदि में स्थित 'अ' में तीनों संज्ञी हैं। इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, आम् आदि भी जानने चाहिए। इन अण्, अक्, अच् आदि संज्ञाओं को पूर्वाचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं। 'प्रत्याहियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अनेनेति प्रत्याहारः' है। जहाँ वर्णों का संक्षेप हो, वहीं प्रत्याहार है, जैसे – अ इ उ ण् = अण्; अइउण् ऋलृक् = अक्, अ इ उ ण्, ऋ, लृ, क्; एओङ् ऐऔच् = एच् आदि।

ध्यान देने की बात है कि अन्त्य वर्ण सीमा निर्धारण के लिए हैं। व्यवहार में उनकी गणना नहीं होती है। पुनः हम सूत्र के बीच से भी वर्णों का ग्रहण करके प्रत्याहार बना सकते हैं, जैसे – अ इ उ ण्, ऋलृक में हम 'इ' से लेकर ऋलृक के क् तक इक् प्रत्याहार बनाते हैं। बस ध्यान रहे कि बाद में कोई इत् संज्ञक वर्ण अवश्य हो।

'अ इ इ ण्' आदि चौदह सूत्रों से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि पाणिनीय व्याकरण में जिनका व्यवहार किया जाता है, उनकी संख्या चौवालीस (44) है। कई लोग 'र' प्रत्याहार को नहीं मानते तो, उनके मत में तैंतालीस (43) हैं। इनमें से बयालीस (42) प्रत्याहार तो आचार्य पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का एवं दूसरा 'चय्' वार्तिकपाठ का है। प्रत्याहारों के अन्तर्गत इत् संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं किया जाता है –**''प्रत्याहारेषु इतां ग्रहणं न।''** इस प्रकार चौदह माहेश्वर सूत्रों की सहायता से किसी भी सूत्र से कोई वर्ण ग्रहण करके आगे के इत् संज्ञक वर्ण के साथ मिलाकर प्रत्याहार बना सकते हैं। अब प्रत्याहारगत वर्णों का ज्ञान करने के लिए निम्नलिखित बातों को कण्ठस्थ कर लें–

क) वर्गों के पांचवें वर्ण ञमङणनम् सूत्र में हैं।

ख) वर्गों के चौथे वर्ण झभञ्, घढधष् सूत्र में हैं।

ग) वर्गों के तृतीय वर्ण जबगडदश् सूत्र में हैं।

घ) वर्गों के द्वितीय वर्ण खफछठथ तक हैं।

ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण चटतप्, कपय् सूत्रों में हैं।

च) ऊष्म वर्ण शषसर्, हल् सूत्रों में हैं।

छ) अन्तःस्थ वर्ण यवरट्, लण् सूत्रों में हैं।

ज) स्वर वर्ण अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच् सूत्रों में हैं।

अब शास्त्रोपयोगी समस्त प्रत्याहारों एवं उनकी सूत्रगत उपयोगिता का विवरण निम्नवत् है–

प्रत्याहार	संज्ञी वर्ण	उदाहरण, सूत्र संख्या
1. अण्	अ, इ, उ	उरण् रपरः (29)
2. अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ	अकः सवर्णे दीर्घः (42)
3. इक्	इ, उ, ऋ, लृ	इको यणचि (15)
4. उक्	उ, ऋ, ल्	उगितश्च (1250)
5. एङ्	ए, ओ	एङः पदान्तादति (43)
6. अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यणचि (15)

7. इच्	'अ' को छोड़कर सभी स्वर	नाद् इचि (127)
8. एच्	ए, ओ, ऐ, औ	एचोऽयवायावः (22)
9. ऐच्	ऐ, औ	वृद्धिराद् ऐच् (32)
10. अट्	सभी स्वर, ट्, य्, व्, र्	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (130)
11. अण्	सभी स्वर, ट्, अन्तःस्थ वर्ण	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (11)
12. इण्	'अ' को छोड़कर सब स्वर, ह्, अन्तःस्थ	इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात (514)
13. यण्	अन्तःस्थ वर्ण	इको यणचि (15)
14. अम्	स्वर, ह्, अन्तःस्थ, वर्ग–पञ्चम	पुमः खयि अम्परे (94)
15. यम्	अन्तःस्थ, वर्ग–पञ्चम	हलो यमां यमि लोपः (1000)
16. ञम्	वर्ग–पञ्चम	ञमन्ताड्डः (उणादि 112)
17. ङय्	ङ्, ण्, न्	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (89)
18. यम्	अन्तःस्थ; वर्ग–पञ्चम, झ्, भ्,	अतो दीर्घो यञि (390)
19. झष्	वर्ग–चतुर्थ	एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (253)
20. भष्	'भ्' को छोड़कर वर्ग–चतुर्थ	एकचो वशो भष् झष. (253)
21. अश्	स्वर; ह्; अन्तःस्थ; वर्गों के पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय वर्ण	भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि (108)
22. हश्	ह्; अन्तःस्थ; वर्गों के पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय	हशि च (107)
23. वश्	व्, र्, ल्; वर्गों के पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय	नेड्वशि कृति (800)
24. जश्	वर्ग–तृतीय	झलां जशोऽन्ते (67)
25. झश्	वर्गों के चतुर्थ एवं तृतीय वर्ण	झलां जश् झशि (19)
26. बश्	ब्, ग्, ड्, द्	एकाचो बशो भष्. (253)
27. छव्	छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्	नश्छवि + अप्रशान् (95)
28. यय्	अन्तःस्थ; सब वर्ग	अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (97)
29. मय्	अ को छोड़कर सब वर्ग	मञ् उञो वो वा (58)
30. झय्	वर्गों के 4, 3, 2, 1 वर्ण	झयो होऽन्यतरस्याम् (75)
31. खय्	वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण	पुनः खयि + अम्परे (94)
32. चय्	वर्गों के प्रथम वर्ण	चयो द्वितीयाः शरि पौ. (वा. 14)
33. यर्	अन्तःस्थ; सभी वर्ग; श्, ष्, स्	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (68)
34. झर्	वर्गों के 4, 3, 2, 1; श्, ष्, स्	झरो झरि सवर्णे (73)
35. खर्	वर्गों के 1, 2; श्, ष्, स्	खरि च (74)

36. चर्	वर्गों के 1; श्, ष्, स्	अभ्यासे चर् च (399)
37. शर्	श्, ष्, स्	ङणोः कुक्टुक् शरि (86)
38. अल्	सभी स्वर; सभी व्यंजन	अलोऽन्त्यस्य (21)
39. हल्	सभी व्यंजन	हलोऽनन्तराः संयोगः (13)
40. वल्	य् को छोड़कर सब व्यंजन	लोपो व्योर्वलि (429)
41. रल्	य्, व् को छोड़कर सब व्यंजन	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (887)
42. झल्	वर्गों के 4, 3, 2, 1; ऊष्म वर्ण	झलो झलि (478)
43. शल्	ऊष्म वर्ण	शल इगुपधादनिटः क्सः (590)
44. र	र्, ल् वर्ण	उरण् रपरः (29)

संज्ञा सूत्र – ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ।1 ।2 ।27 ।।

वृत्ति –उश्च ऊश्च ऊ3श्च इति वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

अर्थ – एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् (स्वर) का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा वाला होता है। उपर्युक्त तीनों अचों के पुनः उदात्त आदि तीन-तीन भेद होते हैं।

व्याख्या – 'ऊकालः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अच्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'ह्रस्व दीर्घप्लुतः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। यह संज्ञा सूत्र है। यहाँ से व्याकरणशास्त्र में उपकारक आगे कही जाने वाली सवर्ण संज्ञा और सवर्ण-ग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध किये गये हैं। 'ऊकालः' का अर्थ है – उ, ऊ और ऊ3 काल वाले। 'उश्च ऊश्च ऊ3श्च इति वः। वः कालो यस्य सः ऊकालः।'' अच् प्रत्याहार है और उसमें सभी स्वर आ जाते हैं। 'ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्चेति ह्रस्वदीर्घप्लुतः। इतरेतरद्वन्द्वः। (यहाँ इतरेतर द्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिए था तथापि सौत्र होने से एकवचन हुआ)। अब सूत्रार्थ हुआ – ''(ऊकालः) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला अच्, क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा वाला होता है। अर्थात् यदि एकमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान किसी अच् का उच्चारण काल होगा तो, वह अच् ह्रस्व, द्विमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान किसी की उच्चारण काल होगा तो, वह अच् दीर्घ एवं त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल होगा तो, वह अच् प्लुत संज्ञक होगा। कहा भी गया है–

''एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः व्यंजनं चार्धमात्रिकम्।।''

आधुनिक काल में लोग सैकेण्ड से मात्रा का निर्धारण करते हैं। एक सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार ह्रस्व, दो सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार दीर्घ एवं तीन सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार प्लुत होता है। इस प्रकार अचों के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत, ये तीन-तीन भेद हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि सभी अचों के तीन-तीन भेद

नहीं होते। पर हाँ! यह तीनों भेद अचों के ही होते हैं; अन्य वर्णों के नहीं। अब अग्रिम तीन सूत्रों के द्वारा प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, ये तीन-तीन भेद बताये जा रहे हैं।

संज्ञा सूत्र – उच्चैरुदात्तः ।1।2।19।।

वृत्ति – ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसञ्ज्ञः स्यात्।

अर्थ – भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् (स्वर) उपर वाले (ऊर्ध्व) भाग में बोला जाये वह उदात्त होता है।

व्याख्या – उच्चैः इति अव्यय पदम्। 'उदात्तः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अच्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, (ऊकालोऽजझस्व दीर्घप्लुतः सूत्र से)। 'उच्चैः' पद का अर्थ स्थानकृत ऊँचाई से है न कि आवाज की ऊँचाई (तेजी) से। अब अर्थ हुआ– ''अपने स्थान के ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण अच् (उदात्तः) उदात्तसंज्ञक होता है।'' अर्थात् जिस स्वर का उच्चारण अपने निर्धारित स्थान के ऊपर भाग से होगा, वह अच् उदात्त कहलायेगा। जैसे– 'अ' का उच्चारणस्थान कण्ठ है। यदि वह कण्ठ के ऊर्ध्व भाग से उच्चारित होगा तो, उदात्त कहलायेगा।

ऐसा ही अन्य अचों के विषय में भी समझना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि ''जो ऊँचे स्वर में बोला जाये, वह उदात्त होता है'' ऐसा अनर्थ किया करते हैं। उनके अनर्गल प्रलाप से सावधान रहना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर मानसिक जप में उदात्तत्व आदि न माना जा सकेगा।

संज्ञा सूत्र – नीचैरनुदात्तः ।1।2।30।।

वृत्ति – ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात्।

अर्थ – भागों वाले तालु आदि स्थानों में जो अच् (स्वर) निचले भाग में बोला जाये, वह अनुदात्त होता है।

व्याख्या – नीचैः इत्यव्ययपदम्; 'अनुदात्तः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अच्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। (ऊकालोऽजझस्व दीर्घप्लुतः सूत्र से)। अब अर्थ हुआ– अपने (निर्धारित उच्चारण) स्थान के नीचे वाले भाग से उच्चार्यमाण अच् अनुदात्त होता है, जैसे – अकार कण्ठ के ऊर्ध्व भाग से बोला जाये तो, उदात्त और यदि कण्ठ के अधो भाग (नीचे) से बोला जाये तो, अनुदात्त होगा। ऐसे ही अन्य वर्णों (स्वर वर्णों) के विषय में समझना चाहिए।

संज्ञा सूत्र – समाहारः स्वरितः ।1।2।31।।

वृत्ति –उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाहियते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

अर्थ – उदात्त और अनुदात्त वर्णों के धर्म, (जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व) ये दोनों जिस अच् में विद्यमान हों, वह अच् (स्वर) स्वरित होता है। इस प्रकार नौ प्रकार का वह अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेद से दो प्रकार का होता है।

व्याख्या – 'उदात्तस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'अनुदात्तस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। 'उच्चैरुदात्तः' सूत्र से 'उदात्तः' तथा 'नीचैरनुदात्तः' से 'अनुदात्तः' पद की अनुवृत्ति आकर विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त होकर 'उदात्तस्य' एवं 'अनुदात्तस्य' हुआ। 'समाहारः' (समाहरणं समाहारः, भावे घञ्) प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'स्वरितः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अब भावार्थ होता है – ''(उदात्तस्य), उदात्त (अनुदात्तस्य) और अनुदात्त के (समाहारः) एकीकरण या समुच्चय या मेल वाला वर्ण (स्वर वर्ण) (स्वरितः) स्वरित कहलाता है।'' अर्थात् जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त दोनों वर्णों के धर्मों का मेल होता है, वह स्वरित संज्ञक होता है। उदाहरणार्थ – अकार का उच्चारण कण्ठ के ऊर्ध्व एवं अधो दोनों भागों से होगा, तब वह अकार स्वरित होगा। इनका प्रयोग केवल वेद में ही होता है। इन्हें इस प्रकार से समझा जा सकता है– उदात्त – अ इ, अनुदात्त – अ इ, स्वरित – अ इ।

स्पष्ट है कि उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, किन्तु अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा और स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होता है। इस प्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत नौ प्रकार के हो गये।

संज्ञा सूत्र – मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।1।1।8।।

वृत्ति – मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिक संज्ञः स्यात्। तदित्थम् – अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादसभेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

अर्थ – मुखसहित नासिका से बोले जाने वाला वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होता है। इस प्रकार – 'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों में प्रत्येक के अठारह-अठारह भेद हो जाते हैं। 'लृ' वर्ण के दीर्घ न होने से 12 भेद होते हैं। एचो (ए, ओ, ऐ, औ) के भी ह्रस्व न होने से 12 भेद होते हैं।

व्याख्या – 'मुखनासिकावचनः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनुनासिकः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। समासः मुखेन सहिता मुख सहिता (तृ.त.) मुखसहिता नासिका मुखनासिका (शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्' वर्त्तिकेन)। उच्यतेइति वचनः (वर्ण इत्यर्थः), कर्मणि ल्युट्; मुखनासिकया वचनः मुखनासिका वचनः। अब सूत्रार्थ बना – ''(मुखनासिकावचनः) मुखसहित नासिका से बोले जाने वाला वर्ण (अनुनासिकः) अनुनासिकसंज्ञक होता है।''

कहने का तात्पर्य यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण का उच्चारण होता ही है किन्तु जो वर्ण मुख के साथ ही साथ नासिका से भी बोला जाये, वह (वर्ण) अनुनासिक होता है। जैसे – ङ् ण् न् म् ञ् आदि वर्ण। इसी प्रकार यदि अच् (स्वर) मुख और नासिका दोनों से बोला जाये, तो अननुनासिक होगा। (न अनुनासिकः अनुनासिकत्व धर्मरहितः स अननुनासिकः)। इस प्रकार पूर्व उल्लिखित नौ-नौ भेदों के पुनः अनुनासिक एवं अननुनासिक भेद से अठारह-अठारह भेद हो जाते हैं। अचों के विभेद में अब 'अ, इ, उ, ऋ' इनमें से प्रत्येक वर्ण के अठारह-अठारह भेद होते हैं। 'लृ' वर्ण के बारह भेद होते हैं। इसके दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के भी 12 ही भेद होते हैं। इसके ह्रस्व न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। इनकी तालिका इस प्रकार है–

अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
1. ह्रस्व उदात्त अनुनासिक 2. ह्रस्व उदात्त अननुनासिक 3. ह्रस्व अनुदात्त अनुनासिक 4. ह्रस्व अनुदात्त अननुनासिक 5. ह्रस्व स्वरित अनुनासिक 6. ह्रस्व स्वरित अननुनासिक	1. दीर्घ उदात्त अनुनासिक 2.दीर्घ उदात्त अननुनासिक 3.दीर्घ अनुदात्त अनुनासिक 4.दीर्घअनुदात्त अननुनासिक 5.दीर्घ स्वरित अनुनासिक 6.दीर्घ स्वरित अननुनासिक	1. प्लुत उदात्त अनुनासिक 2.प्लुत उदात्त अननुनासिक 3.प्लुत अनुदात्त अनुनासिक 4.प्लुतअनुदात्त अननुनासिक 5.प्लुत स्वरित अनुनासिक 6.प्लुत स्वरित अननुनासिक

इस सम्पूर्ण प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही उच्चारणस्थान वाले) अचों में परस्पर तीन प्रकार के भेद होते हैं – 1. कालकृत भेद, 2. स्थानकृत भेद और 3. नासिकाकृत भेद। 'ऊकालोऽजझस्वदीर्घप्लुतः' सूत्र कालकृत भेद करता है। 'उच्चैरुदात्तः, 'नीचैरनुदात्तः', 'समाहारः स्वरितः' ये सभी सूत्र स्थानभागकृत भेद करते हैं। 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' सूत्र नासिकाकृत भेद करता है।

बोध प्रश्न

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

i) अच् के अन्तर्गत सभी .....आते हैं।

ii) टकार आदियों में अकार ..... होता है।

iii) माहेश्वर सूत्रों की संख्या ..... है।

iv) हल् प्रत्याहार में सभी ..... आते हैं।

v) लण् के मध्य स्थित ..... इत् संज्ञक होता है।

2. निम्नलिखित प्रष्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए –

i) जश् प्रत्याहार में आते हैं –

अ) वर्गों के प्रथम वर्ण ब) वर्गों के तृतीय वर्ण

स) वर्गों के पञ्चम वर्ण द) वर्गों के चतुर्थ वर्ण।

ii) 'एच्' के भेद हैं –

अ) 18 (ब) 12 (स) 16 (द) 11

iii) किस स्वर के अठारह भेद होते हैं –

अ) लृ (ब) ए (स) ऋ (द) ऐ

iv) त्रिमुनि में कौन नहीं है –

अ) पाणिनि (ब) वरदराज

स) कात्यायन (द) पतंजलि

v) अनुनासिक वर्ण बोले जाते हैं –

अ) नासिका से (ब) मुख से

स) मुख और नासिका से (द) किसी से नहीं

3. नीचे दिए गए प्रश्नों में से सत्य तथा असत्य कथन का चयन कीजिए –

i) माहेश्वर सूत्रों की संख्या पन्द्रह है – ( )

ii) 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र इत् संज्ञा करता है – ( )

iii) उदात्त स्वर अपने निर्धारित स्थान से ऊपर से बोले जाते हैं – ( )

iv) 'हल्' प्रत्याहार में समस्त व्यंजन आते हैं – ( )

v) 'ऌ' 12 प्रकार का बोधक है, क्योंकि उसका दीर्घ नहीं होता – ( )

अभ्यास प्रश्न

i) 'हलन्त्यम्' सूत्र की व्याख्या कीजिए।

ii) प्रत्याहार किस कहते हैं?

iii) उपदेश किसे कहते हैं?

iv) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में भेद बताइए।

1.3 सारांश

इस इकाई के विधिवत् अध्ययन से आप संज्ञाप्रकरण के अन्तर्गत मङ्गलाचरण के पश्चात् माहेश्वर सूत्र से लेकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' तक के सूत्रों को समझ चुके हैं। इसमें स्वरों एवं व्यंजनों के स्पष्ट भेद को समझाते हुए प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया पर दृष्टिपात किया गया है। साथ ही इत् संज्ञा, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञा, अनुनासिक संज्ञा पर भी विचार किया गया है। सभी स्वरों के भेदों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

1.4 शब्दावली

अच् –'अचः स्वराः' के द्वारा निर्देश किया गया है कि अच् का अर्थ है – स्वर।

हल् – व्यंजनों को हल् कहा गया है।

लोप – व्याकरणशास्त्र में जो वर्ण नहीं सुनाई देते (उपस्थित होने पर भी) उनकी लोप संज्ञा होती है या जिन वर्णों की इत् संज्ञा होती है, उनका 'तस्य लोपः विधिसूत्र से लोप होता है।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित – जो वर्ण अपने नियत स्थान से ऊपर से बोले जाते हैं, वे उदात्त जो नीचे से बोले जाते हैं, वे अनुदात्त और जिनमें उदात्त और अनुदात्त दोनों का धर्म रहता है, वह स्वरित होता है।

अनुनासिक – जिन वर्णों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है, उन्हें अनुनासिक कहते हैं।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वरदराजाचार्य, मूल लघुसिद्धान्तकौमुदी. गोरखपुर, गीताप्रेस.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ गोविन्दाचार्य. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, चौखम्भा सुरभारती.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, धरानन्द. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, भीमसेन. लघुसिद्धान्तकौमुदी. (भाग–1–6), दिल्ली, भैमी प्रकाशन.

शास्त्री, चारुदेव. व्याकरण चन्द्रोदय. (भाग–1–3), दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

वरदराजाचार्य, सम्पा॰ एवं हिन्दी सिंह, सत्यपाल. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, शिवालिक पब्लिकेशन.

1.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. i) स्वर, (अच्) वर्ण, (ii)उच्चारणार्थक, (iii) चौदह, (iv)अकार।

2. i) (ब) वर्गों के तृतीय वर्ण, ii) ब) 12, iii) (स) 'ऋ'
   (iv) (ब) वरदराज, v) (स) मुख और नासिका से।

3. (i) गलत, (ii) गलत, (iii) सही, (iv) सही, (v)सही।

अभ्यास प्रश्न

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।

इकाई 2 संज्ञा प्रकरण – भाग 2

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्..... सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र तक।

2.3 सारांश

2.4 शब्दावली

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के विधिवत् अनुशीलन के पश्चात् आप–

- 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का ज्ञान कर सकेंगे।
- 'यत्न' और 'प्रयत्न' में भेद जान सकेंगे।
- 'ऋ' और 'ऌ' वर्ण की सवर्ण संज्ञा का ज्ञान कर सकेंगे।
- बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में जान सकेंगे।
- वर्णों के उच्चारणस्थान को जान सकेंगे।
- 'सुबन्त' और 'तिङन्त' का ज्ञान कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में आपने मङ्गलाचरण से लेकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' तक के सूत्रों का अध्ययन किया। इस इकाई में 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्त पदम्' तक के सूत्रों की व्याख्या की गयी है। प्रस्तुत इकाई में वर्णों की सवर्ण संज्ञा, उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न आदि के विषय में बहुत विस्तार से बताया गया है। साथ ही एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु का उल्लेख (जो कि प्रथम इकाई में ही करना था किन्तु शब्द मर्यादा के भय से छूट गया) आवश्यक है और वह यह है कि माहेश्वर सूत्र में सभी वर्ण एक बार पढ़े गये हैं, जबकि हकार (ह्) दो बार पढ़ा गया है तो क्यों? इसका समाधान है कि, 'अट्' प्रत्याहार और 'शल्' प्रत्याहार को चरितार्थ करने के लिए ऐसा किया गया है। यह 'अर्टेण' और 'अधुक्षत्' की सिद्धि में उपयोगी है। इसका यथास्थान विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

पुनः प्रस्तुत इकाई में यत्न और प्रयत्न का भेद स्पष्ट करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों के प्रकारों का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। यहीं पर 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र, जिसे ग्रहणशास्त्र (गृहयते अकारदीनां भेदः येन तद्ग्रहणकम्, स्वार्थे

'क' प्रत्ययः) भी कहते हैं के विषय में बताया गया है। इसी सूत्र के अन्तर्गत विधीयमान और अविधीयमान शब्दों का अर्थ और उपयोगिता का भी विवेचन किया गया है। साथ ही संज्ञापद एवं क्रियापद को समझाने के लिए 'सुप्तिङन्त पदम्' सूत्र की विस्तृत व्याख्या की गयी है। शेष इकाई के सम्यक् अध्ययन से स्वतः ज्ञात होगा।

2.2 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्.....सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र तक।

संज्ञा सूत्र – तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।1।1।9।।

वृत्ति – ताल्वादिस्थानमाभ्यान्तर प्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण संज्ञं स्यात्।

अर्थ – तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों जिस वर्ण के तुल्य हों वह वर्ण जाल (अक्षर-समुदाय) परस्पर सवर्ण संज्ञक होता है।

व्याख्या – 'तुल्यास्यप्रयत्नं' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सवर्णम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – आस्ये भवम् आस्यम् ('शरीरावयवाच्च' इति भावार्थे यत् प्रत्ययः)। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, यद्वा प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः (कुगतिप्रदायः) इति प्रादि समासः। आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तुल्यौ आस्य प्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् बहुब्रीहिसमासः अर्थात् (तुल्यास्यप्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक ताल्वादि स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो, वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण संज्ञक होता है।

लोक में आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नों के लिए सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु शास्त्र में इन दोनों के लिए यत्न शब्द का ही प्रयोग होता है। यहाँ 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' उपसर्ग लगा है जो बाह्य यत्न को छोड़कर केवल आभ्यन्तर यत्न का ही बोधक है। तथाहि–**'प्राक्तनो यत्नः प्रयत्नः'** अथवा **'प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः'**। जो पहला यत्न या उत्कृष्ट यत्न हो, वही प्रयत्न है। अतः 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति में कारण होने से उत्कृष्ट है।

यहाँ ध्यातव्य है कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हों तब तक 'सवर्ण संज्ञा' नहीं होती, यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालु स्थान भी तुल्य है; किन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठ स्थान अधिक है; अतः इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होती। सवर्ण संज्ञा नहीं होने से 'भवित+एव' में अनिष्ट सवर्ण दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है। इसका प्रमाण आचार्य पाणिनि का 'यजुष्येकेषाम् (8.3.104) = यजुषि+एकेषाम्' सूत्र है।

अब यहाँ एक शंका और उठती है कि यदि सम्पूर्ण 'स्थान और प्रयत्न' के साम्य होने पर ही सवर्ण संज्ञा होगी, तो 'क्' और 'ङ्' की सवर्ण संज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिका स्थान अधिक है और यदि इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं होगी तो 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र में ककार ङकार

का ग्रहण न करायेगा। इससे प्राङ् आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न होकर अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होंगे।

इसका समाधान यह है कि 'आस्य(मुख)+प्रयत्न' के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ मुख में होने वाला प्रयत्न या स्थान है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान 'कण्ठ' तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है; फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो, चिन्ता नहीं, सवर्ण संज्ञा हो जाती है। स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। कारण यह है कि आचार्य पाणिनि ने 'एओङ्' और 'ऐओच्' सूत्रों का अलग-अलग निर्देश किया है।

वार्त्तिक – ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अर्थ – ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए।

व्याख्या – 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र के अनुसार ककार और लृकार की सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि ऋकार का स्थान 'मूर्धा' है और लृकार का 'दन्त' है किन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिए इनकी सवर्ण संज्ञा करना आवश्यक है। अतः इस त्रुटि की पूर्ति आचार्य कात्यायन ने इस वार्तिक द्वारा की है। अतः दोनों का स्थान साम्य न होने पर भी सवर्ण संज्ञा सिद्ध हो जाती है। सवर्ण संज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से उनका विवेचन किया जा रहा है। यथा –

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थ – (अठारह प्रकार के) अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ होता है।

व्याख्या – 'अकुहविसर्जनीयानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'कण्ठः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम् अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहाँ पर विसर्जनीय और विसर्ग एकार्थवाची हैं। ध्यान देने की बात है कि विसर्ग का कण्ठ स्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित या अकार से परे होता है, जैसे – रामः। जब विसर्ग इकाराश्रित होगा तो, उसका उच्चारणस्थान तालु होगा, जैसे – हरिः। इसी प्रकार भानुः में ओष्ठ उच्चारणस्थान होगा। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है–

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः।' (पा. शि. 22)

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही उच्चारणस्थान होता है जिसके वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही होते हैं, क्योंकि शिक्षा में कहा गया है–

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिका स्थानमुच्यते।' (पा. शि. 22)

अब अयोगवाहों में शेष रहे– जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इनमें से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है; इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार या फकार के आश्रित होने से ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। अब बचा केवल

विसर्ग। यह जिसके आश्रित (रामः, हरिः, भानुः आदि) होगा वही-वही उच्चारणस्थान होगा।

इचुयशानां तालु।

अर्थ – (अठारह प्रकार के) इकार, चु (चवर्ग), यकार (अनुनासिक एवं अननुनासिक) तथा शकार का तालु स्थान होता है।

व्याख्या – 'इचुयशानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'तालु' प्रथमा विभक्ति एकवचन। **समास** – इश्च चुश्च यश्च शश्च इचुयशाः तेषाम् इचुयशानाम् इतरेतर द्वन्द्वः। यहाँ पर 'इ' से सम्पूर्ण अठारह प्रकार का इकार, 'चु' से चवर्ग, 'य्' से अनुनासिक एवं अननुनासिक दो प्रकार का यकार गृहीत होता है। दांतों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते हैं।

ऋटुरषाणां मूर्धा।

अर्थ – अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या – 'ऋटुरषाणाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'मूर्धा' प्रथमा विभक्ति एकवचन। **समास** – आ च टुश्च रश्च षश्च ऋटुरषाः; तेषां ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। तालु स्थान के पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है, उसे मूर्धा कहते हैं। षकार आदि के उच्चारण में विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लृतुलसानां दन्ताः।

अर्थ – (बारह प्रकार के) लृकार, तवर्ग तथा दो प्रकार के लकार (अनुनासिक एवं अननुनासिक) तथा सकार का स्थान 'दन्त' होता है।

व्याख्या – 'लृतुलसानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'दन्ताः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन। **समास** – आ च तुश्च लश्च सश्च लृतुलसाः, तेषां लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहाँ 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दांतों के पीछे साथ लगे हुए मांस से है। अतः भग्न दांतों वाला व्यक्ति भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।

अर्थ – अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय (प≍फ) का उच्चारणस्थान ओष्ठ होता है।

व्याख्या – 'उपध्मानीयानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'ओष्ठौ' प्रथमा विभक्ति द्विवचन। **समास** – उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च उपूपध्मानीयाः, तेषाम् उपध्मानीयानाम्; इतरेतरद्वन्द्वः। अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व ≍ (आधे विसर्ग की मात्रा) इस प्रकार की मात्रा उपध्मानीय होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा।

ञमङणनानां नासिका च।

अर्थ – ञ् म् ङ् ण् न् इन पाँच वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है।

व्याख्या – अश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च अमङणनाः, तेषां अमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। आदिष्वकार उच्चारणार्थः। यहाँ मूल में च ग्रहण का प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने-अपने वर्णों का स्थान भी होता है, यथा – अकार का तालु स्थान और नासिका स्थान दोनों हैं। इसी प्रकार मकारादि में भी समझना चाहिए।

एदैतोः कण्ठतालु।

अर्थ – बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या – 'एदैतोः' षष्ठी विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठतालु' प्रथमा विभक्ति एकवचन। एच्च ऐच्च एदैतौ, तयोः एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च तालु च कण्ठतालु। प्राण्यङ्गत्वात् समाहरद्वन्द्वः। यहाँ मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए, तपर नहीं।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।

अर्थ – बारह प्रकार के 'ओकार' तथा 'औकार' का उच्चारणस्थान 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' होता है।

व्याख्या – 'ओदौतोः' प्रथमा विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। **समास** – ओच्च औच्च ओदौतौ तयोः ओदौतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा इति वार्तिकेन पररूपता। पूर्ववत् यहाँ भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए।

वकारस्य दन्तोष्ठम्।

अर्थ – वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है।

व्याख्या – 'वकारस्य' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'दन्तोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। **समास** – दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वार्तिकेन पररूपता। जो लोग वकार (व्) के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे बकार (ब्) बना देते हैं उन्हें यह नियम ध्यान से पढ़ना चाहिए।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थ – जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है।

व्याख्या – 'जिह्वामूलीयस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'जिह्वामूलम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व ≍ ऐसा (अर्ध विसर्ग) चिह्न जिह्वामूलीय का होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा।

नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थ – नासिका को अनुस्वार का उच्चारणस्थान कहा गया अर्थात् अनुस्वार का उच्चारणस्थान 'नासिका' है।

व्याख्या – 'नासिका' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनुस्वारस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। अच् से परे ∸ इस प्रकार का चिह्न 'अनुस्वार' कहलाता है। इसका विवेचन आगे मूल में ही किया जायेगा।

इस प्रकार यहाँ उच्चारणस्थान का प्रसंग समाप्त हुआ – (इति स्थानानि)। आगे बाह्य और आभ्यन्तर यत्न के विषय में कहा जा रहा है –

यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा– स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

अर्थ – यत्न दो प्रकार का होता है। एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहला (आभ्यन्तर यत्न) पाँच प्रकार का होता है– 1. स्पृष्ट, 2. ईष्त्स्पृष्ट, 3.ईषद्विवृत, 4.विवृत, 5.संवृत। इनमें से स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। पुनः स्वरों का विवृत प्रयत्न होता है। ह्रस्व 'अ' का उच्चारण काल में 'संवृत' प्रयत्न होता है और प्रयोग-सिद्धि के समय केवल 'विवृत' प्रयत्न होता है।

व्याख्या – 'यत्न' का अर्थ है – प्रयास या कोशिश। वह यत्न दो प्रकार का होता है। एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात्।

जो वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है उसे 'आभ्यन्तर' और जो वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् होता है उसे 'बाह्य' कहते हैं। अब इनमें से प्रथम 'आभ्यन्तर' प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है। यथा– 1.स्पृष्ट, 2.ईष्त्स्पृष्ट, 3.ईषद्विवृत, 4.विवृत, 5.संवृत। वर्णों की उत्पत्ति में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग का उपयोग किया जाता है। जिह्वा को स्थान का छूना– 'स्पृष्ट', थोड़ा छूना– ईषत्स्पृष्ट', थोड़ा दूर रहना– 'ईषद्विवृत', दूर रहना– 'विवृत' तथा हटकर समीप रहना– 'संवृत' प्रयत्न कहलाता है।

स्पर्श अर्थात् 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त (25) वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है। इनके उच्चारण में जिह्वा को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप प्रयत्न करना पड़ता है। अन्तःस्थ (य्, व्, र्, ल्) वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है। ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह् वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को स्थान से थोड़ा दूर रखना चाहिए। स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है। इनके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से दूर रखना चाहिए। ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है। इसके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटाकर उसके समीप रखना चाहिए।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों में यथावत् वर्णन किया गया है। इन प्रयत्नों से व्याकरण में और कोई दोष तो नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ आकार का सवर्णी नहीं हो सकता क्योंकि ह्रस्व अकार का 'संवृत' और दीर्घ आकार का 'विवृत' प्रयत्न होता है। सावर्ण्य न होने से 'हिम+आलय' आदि में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र नहीं लग सकेगा। इसकी निवृत्ति के लिए आचार्य पाणिनि ने इस शास्त्र में प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है। अतः दोनों की सवर्ण संज्ञा हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य पाणिनि के अन्तिम सूत्र 'अ अ' के भाष्य में किया गया है। अब 'आभ्यन्तर' प्रयत्न के बाद 'बाह्य' यत्न का वर्णन किया जा रहा है–

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा – विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौंशलश्च महाप्राणाः।

अर्थ – बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है– 1. विवार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. नाद, 5. अघोष, 6. घोष, 7 अल्पप्राण, 8 महाप्राण, 9, उदात्त, 10. अनुदात्त, 11. स्वरित। 'खर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण संवार, नाद और घोष प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय चतुर्थ और 'शल्' प्रत्याहार के वर्ण महाप्राण प्रयत्न वाले होते हैं।

व्याख्या – यद्यपि यह प्रसंग ध्वनिशास्त्र का है तथापि यहाँ विवार आदि का संक्षिप्त वर्णन अनुचित नहीं होगा।

विवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे 'विवार' प्रयत्न वाले कहे जाते हैं।

संवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को 'संवार' कहते हैं।

श्वास – वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को 'श्वास' प्रयत्न कहते हैं।

नाद – वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को 'नाद' यत्न कहते हैं।

घोष-अघोष – वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना 'घोष' तथा गूंज का न उठना 'अघोष' यत्न कहलाता है।

अल्पप्राण-महाप्राण – वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को 'अल्पप्राण' तथा अधिक उपयोग को 'महाप्राण' यत्न कहते हैं।

अब उपर्युक्त प्रकरण में आये हुए– 1. स्पर्श, 2. अन्तःस्थ, 3. ऊष्म, 4. स्वर, 5. जिह्वामूलीय, 6. उपध्मानीय, 7. अनुस्वार और 8. विसर्ग। इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं –

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प ≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

अर्थ – 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्ण अन्तःस्थ हैं। शल् (श्, ष्, स्, ह्) वर्ण ऊष्म हैं। अच् प्रत्याहार में स्वर होते हैं। 'क्' तथा 'ख्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'जिह्वामूलीय' होता है। 'प्' तथा 'फ्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'उपध्मानीय' होता है। 'अं, अः' यहाँ अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या – प्रत्याहार सूत्रों में 'क्' से 'म्' तक मिलना सम्भव नहीं है। अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ये ही पच्चीस वर्ण स्पर्श-संज्ञक होते हैं। चूँकि इनका उच्चारण जिह्वा का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है; अतः इन्हें 'स्पर्श' वर्ण कहते

हैं। य्, व्, र्, ल् को अन्तःस्थ इसलिए कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यंजन के बीच (अन्तः) स्थित होते है। प्रत्याहार सूत्रों में भी इनको स्वरों और व्यंजनों के मध्य पढ़ा गया है। ये व्यंजन भी हैं और स्वर भी। अंग्रेजी में इन्हें अर्धस्वर कहते हैं। 'इको यणाचि', 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र भी यही प्रकट करते हैं।

श्, ष्, स्, ह् ये चार वर्ण ऊष्म कहलाते हैं। चूँकि इनके उच्चारण से गर्म वायु निकलती है; अतः इन्हें 'ऊष्म' कहा जाता है। 'क्' या 'ख्' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प्' या 'फ्' परे होने पर उपध्मानीय आदेश होते हैं। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं। यहाँ सादृश्य उच्चारण दृष्टि से न समझकर लिपि की दृष्टि से समझना चाहिए। अनुस्वार की आकृति ं इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदैव स्वर के ऊपर लिखा जाता है किन्तु इसकी स्थिति स्वर के अनन्तर ही होती है। विसर्ग की आकृति ':' इस तरह दो गोल चिह्न के द्वारा प्रकट की जाती है। यह भी स्वर के बाद ही प्रयुक्त होता है।

उच्चारण स्थान बोधक सारिणी

कण्ठ	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ताः	नासिका	कण्ठ तालु	कण्ठ ओष्ठ	दन्त ओष्ठ	जिह्वामूलीय
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	≍क
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		≍ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	ं				
ह्	य्	≍प	र्	ल्					
:	श्	≍फ	ष्	स्					

आभ्यन्तर प्रयत्न बोधक तालिका

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्	ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क् च् ट् त् प्	य्	अ	श्	ह्रस्वस्य
ख् छ् ठ् थ् फ्	व्	इ	ष्	अवर्णस्य
ग् ज् ड् द् ब्	र्	उ	स्	उच्चारणकाले
घ् झ् ढ् ध् भ्	ल्	ऋ	ह्	केवलम्
ङ् ञ् ण् न् म्		लृ		
		ए		
		ओ		
		ऐ		
		औ		

बाह्य-यत्न-बोधक-तालिका

विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त स्वरित
क् ख्	ग् घ् ङ्	क् ग् ङ्	ख् घ्	अ
च् छ्	ज् झ् ञ्	च् ज् ञ्	छ् झ्	इ
ट् ठ्	ड् ढ् ण्	ट् ड् ण्	ठ् ढ्	उ
त् थ्				ऋ
प् फ्	ब् भ् म	प् ब् भ्	फ् भ्	ए
श् ष् स्	य्, व् र् ल्	य् व्	श्	ओ
	ह्	र् ल्	ष्	ऐ
	(सभी स्वर)	(सभी स्वर)	स्	औ
			ह्	

संज्ञासूत्र – अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।1।1।69।।

वृत्ति – प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु, चु, टु, तु, पु एते उदितः। तदेवम्– 'अ' इति अष्टादशानां संज्ञा, तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम् अनुनासिकाननुनासिकभेदन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अर्थ – जिसका विधान किया जाता है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। अतः अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ 'अण्' सवर्णों की तथा अपनी संज्ञा वाला हो। केवल इसी सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है। 'कु, चु, टु, तु, पु' इनको उदित कहते हैं। इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की संज्ञा वाला हो जाता है। इसी प्रकार 'इ' और 'उ' भी। ऋकार तीस प्रकार की संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी 'एच्' प्रत्याहार का प्रत्येक वर्ण बारह-बारह प्रकार की संज्ञा वाला है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं। अतः अननुनासिक 'य् व् ल्' ही दो-दो की संज्ञा होंगे।

व्याख्या – 'अण्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'उदित्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सवर्णस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। 'अप्रत्ययः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'स्वस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। (चकार के बल से 'स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा' सूत्र से 'स्वम्' पद आकर षष्ठ्यन्त में विपरिणमित होकर 'स्वस्य' बनता है)। **समास** – उत् = ह्रस्व उवर्णः, इत् यस्य स उदित्, बहुव्रीहि समासः। प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः, न प्रत्ययः अप्रत्यय, नञ् तत्पुरुषसमासः अर्थात् (अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ 'अण्' और 'उदित्' (सवर्णस्व) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की संज्ञा वाला होता है।

'प्रत्यय' शब्द यहाँ यौगिक है इसका अर्थ है – 'विधान किया हुआ', यथा – 'इको यण् अचि' सूत्र में 'यण्' और 'सनाशंस भिक्ष उः' सूत्र में 'उ' विधान किया गया है। अतः ये

दोनों प्रत्यय हैं। 'अण्' तथा 'इण्' प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते हैं – 1) अ, इ, उ, ण, के णकार से और दूसरा 'लण्' के णकार से। कहाँ पूर्व णकार से तथा कहाँ पर णकार से इनका ग्रहण करना चाहिए? यह शंका यहाँ उठती है। इस विषय में भाष्य-सम्मत निर्णय यह है कि 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र 'लण्' वाले पर णकार से तथा 'अण्' प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र को छोड़कर सर्वत्र 'अ इ उ ण्' वाले पूर्व णकार से ग्रहण होता है। इस नियम से यहाँ 'अण्' प्रत्याहार 'लण्' वाले पर णकार से ग्रहण होता है।

तो, यहाँ 'अण्' प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्' इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये अविधीयमान होंगे तो, अपनी और अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे, यथा – 'इको यण् अचि' में 'इक्' और 'अच्' अविधीयमान हैं – विधान नहीं किये गये हैं; (विधान तो 'यण्' ही किया जाता है)। अतः 'इक्' के अन्तर्गत चार वर्ण – 'इ, उ, ऋ, ऌ' अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे। अतः 'सुधी+उपास्य' यहाँ पर दीर्घ ईकार के स्थान पर भी 'यण्' हो जाता है। पुनः अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत – 'अ् इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे। इससे 'दधि+आनय = दध्यानय' यहाँ दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कु, चु, टु, तु, पु' ये इस सूत्र में उदित माने गये हैं क्योंकि इनके उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा होती है। यद्यपि 'कु, चु, टु, तु, पु' इन समुदायों का कोई सवर्ण नहीं होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्, के सवर्णों का तथा उनके स्वरूप का ग्रहण यहाँ समझना चाहिए। 'क' के सवर्ण 'ख्, ग्, घ्, ङ्' ये चार वर्ण हैं। अतः 'कु' कहने से इन चार वर्णों तथा पाँचवें अपने रूप 'क्' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'चु, टु, तु, पु' को समझना चाहिए।

ध्यान देने की बात है कि 'उदित्' के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध नहीं है; अतः उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक दशा में अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होगा। यथा 'चोः कुः' सूत्र में 'चु' अविधीयमान एवं 'कु' विधीयमान है। दोनों अपने तथा अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

अब अनन्तर – 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्,' ये संज्ञाएँ हैं। इनके संज्ञी निम्नवत् हैं–

'अ, इ, उ' = इन संज्ञाओं के अठारह-अठारह संज्ञी होते हैं।

ऋ, ऌ = इन दोनों की 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यम् वाच्यम्' से सवर्ण संज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के 30-30 संज्ञी होते हैं।

ए, ओ, ऐ, औ = ह्रस्व ना होने के कारण इनमें से प्रत्येक वर्ण के 12-12 संज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल् = अनुनासिक और अननुनासिक भेद से ये दो प्रकार के होते हैं। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य्, व्, ल् का ही ग्रहण है। अतः अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे अनुनासिकों की संज्ञा होते हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण 'अण्' प्रत्याहार में न होने के कारण वे सवर्णों के ग्राहक नहीं होते।

केवल ह्रस्व वर्ण ही सवर्णों के ग्राहक (एच् दीर्घ ही) होते हैं। रेफ और ऊष्म वर्ण 'अण्' प्रत्याहार में होते हुए भी किसी अन्य सवर्णों के ग्राहक नहीं होते। शिक्षाकर इसमें प्रमाण हैं – ''रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' अर्थात् रेफ और ऊष्म के सवर्ण नहीं होते।

संज्ञासूत्र – परः सन्निकर्षः संहिता ।1 ।4 ।109 ।।

वृत्ति – वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

अर्थ – वर्णों की अत्यन्त समीपता संहिता संज्ञक होती है।

व्याख्या – 'परः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सन्निकर्षः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'संहिता' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अर्थात् (परः) अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' संज्ञक होता है। दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहलाती है।

संज्ञासूत्र – हलोऽनन्तराः संयोगः ।1 ।1 ।7 ।।

वृत्ति – अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

अर्थ – अचों (स्वरों) के व्यवधान से रहित हलों (व्यञ्जनों) की संयोग संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'हलः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'अनन्तराः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'संयोगः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – अविद्यमानम् अन्तरम् = व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (अनन्तराः) जिनमें अन्तर का व्यवधान न हो, ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-संज्ञक होते हैं।

व्यवधान सदैव विजातीयों का ही होता है; सजातीयों का नहीं। 'हल्' के विजातीय 'अच्' हैं। अतः यदि हल् अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उनकी संयोग संज्ञा होगी। सूत्र में 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है। इससे दो या दो से अधिक हलों की संयोग संज्ञा हो जाती है, यथा – 'इन्द्रः' पद में नकार, दकार और रेफ की तथा 'कष्टुः' में षकार, टकार और रेफ की संयोग संज्ञा समझनी चाहिए। ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक हल् की संयोग संज्ञा नहीं होती अपितु सम्पूर्ण हल्-समुदाय की ही होती है। फिर चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो या दो से अधिक हलों का।

संज्ञासूत्र – सुप्तिङन्तं पदम् ।1 ।4 ।14 ।।

वृत्ति – सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

अर्थ – सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप की पद-संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'सुप्तिङन्तम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'पदम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत् सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्दस्वरूप (पदम्) पद-संज्ञक होते हैं। शब्दानुशासन का विषय होने के कारण 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है। सुबन्त प्रकरण में 'स्वौजसमौट्0' सूत्र में 'सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम् भिस्, ङे., भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस, आम्, ङि., ओस्, सुप्' ये 21 सुप् प्रत्यय तथा तिङन्त

प्रकरण के 'तिप्तस्झिसिप्0' सूत्र में 'तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इड्, वहि, महिङ्' ये अठारह तिङ् प्रत्यय कहे गये हैं।

ये 'सुप्' या 'तिङ्' जिनके अन्त में लगते हों, उन्हें पद कहा जाता है। जिसके अन्त में सुप् प्रत्यय लगते हैं, उसे सुबन्त (सुप्+अन्त) या संज्ञापद कहा जाता है और जिसके अन्त में 'तिङ्' प्रत्यय लगते हैं, उसे तिङन्त (तिङ्+अन्त) या क्रिया पद कहते हैं। जैसे – 'रामः, पुरुषः, देवस्य, कृष्णस्य, देवः' आदि सुबन्त पद हैं। पुनः 'पठति, गच्छति, खादति, चलति, धावति' आदि तिङन्त पद हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इन प्रत्ययों से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद संज्ञा होती है; केवल प्रवृत्ति या केवल प्रत्यय की नहीं।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए –

i) अल्पप्राण है –

(क) क् (ख) छ्

(ग) ष् (घ) ढ

ii) लघुसिद्धान्तकौमुदी के लेखक हैं –

क) पाणिनि (ख) यास्क

(ग) पतञ्जलि (घ) वरदराज

iii) अयोगवाह है –

क) उदित् (ख) विवृत

ग) संवृत (घ) अनुस्वार

iv) पद संज्ञा होती है –

क) कृदन्त की (ख) तिङन्त की

ग) तद्धितान्त की (घ) विसर्ग की

v) संवृत 'प्रयत्न होता है –

क) अनुस्वार का (ख) विसर्ग का

ग) ह्रस्व अकार का (घ) जिह्वामूलीय का

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

i) यण् ..... होते हैं।

ii) ह्रस्व अकार ..... संवृत होता है।

iii) ..... पाँच प्रकार के होते हैं।

iv) क् से लेकर म् तक के वर्ण ..... कहे जाते हैं।

v) हश् प्रत्याहार में ..... यत्न वाले वर्ण होते हैं।

3. नीचे दिए गए प्रश्नों में से सही/गलत कथन का चयन कीजिए –

क) ञ्, म्, ङ्, ण्, न् का उच्चारणस्थान ओष्ठ है – (सही/गलत)

ख) पद संज्ञा सुबन्त और तिङन्त दोनों की होती है – (सही/गलत)

ग) क् ख् से पूर्व आधे विसर्ग के सदृश उपध्मानीय होता है – (सही/गलत)

घ) विसर्ग का उच्चारण तालु से होता है – (सही/गलत)

ङ) 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय.' सूत्र में अण् पर णकार से ग्राह्य है – (सही/गलत)

अभ्यास प्रश्न

i) विसर्जनीय के स्थान का शास्त्रीय विवेचन कीजिए।

ii) सुबन्त और तिङन्त में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

iii) **'हलोऽनन्तराः संयोगः'** सूत्र की व्याख्या कीजिए।

2.3 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के विधिवत् अध्ययन के द्वारा आप 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का अर्थ-ज्ञान एवं उनकी उपयोगिता को समझ चुके हैं। यहाँ पर प्रत्येक वर्ण का उच्चारणस्थान तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयत्नों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रहणकशास्त्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र के आलोक में सभी वर्णों के भेद-प्रभेदों का यथोचित वर्णन किया गया है। साथ ही संहिता संज्ञा, संयोग संज्ञा और पद संज्ञा का भी विस्तृत अर्थ बताया गया है।

2.4 शब्दावली

आस्य-प्रयत्न – 'आस्ये भवम् आस्यम्'। 'आस्य' का अर्थ है 'मुख'। मुख में होने वाला प्रयत्न ही आस्य-प्रयत्न कहलाता है। विभिन्न वर्णों का उच्चारण करने के लिए मुख के अन्दर जो प्रयत्न होता है, उसे आस्य-प्रयत्न कहते हैं।

अप्रत्यय – जिसका विधान सूत्र द्वारा न किया जाए, वह 'अप्रत्यय' कहलाता है।

उदित् – (उत्) ह्रस्व उकार जिसका 'इत्' हो, वह उदित् है, जैसे – कु, चु, टु, तु, पु इन सबमें विद्यमान अनुनासिक उकार (उँ) की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई है, अतः ये उदित् हैं।

अल्पप्राण – 'प्राण' का अर्थ है– वायु। जिस वर्ण के उच्चारण में कम वायु मुक्त होती है, वह 'अल्पप्राण' है। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण कहे जाते हैं।

महाप्राण – वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा शल् प्रत्याहार के वर्ण 'महाप्राण' कहे जाते हैं।

संयोग संज्ञा – जिन दो या दो से अधिक वर्णों के बीच किसी स्वर का व्यवधान न हो, उन्हें 'संयोग' कहते हैं, जैसे – कृष्णः यहाँ 'कृष्णः' पद में ष् ण् के बीच किसी स्वर का हस्तक्षेप नहीं है। अतः इसकी संयोग संज्ञा हुई।

संहिता – जब दो स्वरों के बीच आधी से भी कम मात्रा का व्यवधान हो तो उनकी संहिता संज्ञा होती है।

पद – सुबन्त (रामः, कृष्णः) एवं तिङन्त (पठति, चलति,) को 'पद' नाम से जाना जाता है।

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वरदराजाचार्य, मूल लघुसिद्धान्तकौमुदी. गोरखपुर, गीताप्रेस.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ गोविन्दाचार्य. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, चौखम्भा सुरभारती.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, धरानन्द. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, भीमसेन. लघुसिद्धान्तकौमुदी. (भाग–1–6), दिल्ली, भैमी प्रकाशन.

शास्त्री, चारुदेव. व्याकरण चन्द्रोदय. (भाग–1–3), दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

वरदराजाचार्य, सम्पा॰ एवं हिन्दी सिंह, सत्यपाल. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, शिवालिक पब्लिकेशन.

2.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. (i) (क) क्, (ii) (घ) वरदराज, (iii) (घ) अनुस्वार, (iv) (ख) तिङन्त की, (v) (ग) ह्रस्व अकार का।
2. (i) अल्पप्राण, (ii) उच्चारण के समय, (iii) आभ्यन्तर प्रयत्न, (iv) स्पर्श, (v) संवार, नाद, घोष।
3. (क) गलत, (ख) सही, (ग) गलत (घ) गलत, (ङ) सही।

अभ्यास प्रश्न

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।

इकाई 3 विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सूत्र-व्याख्या

3.3 सारांश

3.4 शब्दावली

3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- 'कारक' के लक्षण और अर्थ के विषय में जान सकेंगे।
- 'प्रातिपदिकार्थ' क्या है? इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- कारक के समस्त भेदों और सात विभक्तियों के विषय में जान सकेंगे।
- विभक्ति और कारक के बीच सम्बन्ध का ज्ञान कर सकेंगे।
- कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति को स्पष्ट रूप से जान सकेंगे।
- मुख्य कर्म और अकथित कर्म को समझ सकेंगे।
- उक्त, अनुक्त, णिजन्त और अणिजन्त का ज्ञान कर सकेंगे।
- आधार के तीन भेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में सञ्ज्ञा और सन्धि प्रकरण के बाद अजन्तपुँल्लिङ्ग आदि छः प्रकरणों में 'सु' आदि इक्कीस विभक्ति-प्रत्ययों का विधान किया गया है। इन इक्कीस प्रत्ययों को सात विभक्तियों में विभाजित किया गया है। कौन सी विभक्ति किस अर्थ में होगी, यह बात कारक-प्रकरण में बतायी गई है। अतः इस प्रकरण को 'विभक्त्यर्थप्रकरण' भी कहते हैं।

'कारक' शब्द का एक अर्थ कर्त्ता भी है। यहाँ पर कारक एक पारिभाषिक शब्द है। **'करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकम् अथवा – 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' अथवा – 'साक्षात् क्रियाजनक एवं कारकत्वम्'।** अर्थात् जो क्रिया का निमित्त बने, जो क्रिया का निष्पादन करे, जो क्रिया के साथ अन्वय या सीधे सम्बन्ध रखे अथवा जो क्रिया का जनक है, उसे कारक कहते हैं।

ध्यातव्य है कि 'कारक' क्रिया की निष्पति में लगी हुई द्रव्य-शक्ति है। या हम सरल शब्दों में कह सकते हैं कि क्रिया के साथ साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाला

तत्त्व ही कारक है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भेद से यह छः प्रकार का है। 'सम्बन्ध' को कारक नहीं माना जाता क्योंकि यहाँ क्रिया के साथ सम्बन्ध का अभाव रहता है। यथा– 'देवदत्तः **रामस्य** पुस्तकं पठति'। यहाँ पर 'पठति' क्रिया के साथ 'देवदत्त' और 'पुस्तक' का सम्बन्ध तो है किन्तु 'राम' का नहीं। 'राम' का सम्बन्ध पुस्तक के साथ है और पुस्तक क्रिया नहीं अपितु कर्म है। अतः राम में सम्बन्ध में षष्ठी है, कारक में नहीं। तो, स्पष्ट है कि हम उसीको 'कारक' कहेंगे, जिसका क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है। यथा – 'रामः रावणं बणेन सीतायै वनात् गत्वा लंकायां जघान। यहाँ 'जघान' क्रिया है। उसके साथ राम, रावण, बाण, सीता, वन और लंका सभी का सम्बन्ध है; अतः ये सब कारक हैं।

अब कारक के साथ ही विभक्ति पर भी विचार कर लेना चाहिए। जिससे 'संख्या' और 'कारक' का ज्ञान होता है, उसे विभक्ति कहते हैं। यथा – ''संख्याकारकबोधयित्री– विभक्तिः।'' उदाहरण के लिए – 'रामः शिवं भजतिं। अर्थात् 'राम शिव को भजते हैं।' यहाँ पर 'रामः' में प्रथमा विभक्ति एवं 'शिवं' में द्वितीया विभक्ति क्रमशः कर्त्ता और कर्म कारक का बोध करा रही है। साथ ही एकवचन का भी ज्ञान हो रहा है। विभक्ति भी दो प्रकार की है। एक कारक विभक्ति, दूसरी उपपद विभक्ति जो पद-विशेष के कारक होती है। 'रामः ग्रामं गच्छति' यहाँ पर 'रामः' में प्रथमा और 'ग्रामम्' में द्वितीया का सम्बन्ध गच्छति क्रिया से है। अतः ये दोनों कारक-विभक्तियाँ है। 'शिवाय नमः' में 'शिवाय' पद में चतुर्थी विभक्ति 'नमः' पद के योग में है। अतः यह उपपद विभक्ति है। कारक विभक्ति उपपद-विभक्ति से बलवान् होती है। शेष व्याख्या-खण्ड के विधिवत् अध्ययन से आप स्वयं जान सकेंगे।

3.2 सूत्र-व्याख्या

सूत्र – प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।2।3।46।।

वृत्ति –नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे – उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे – तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे – द्रोणो व्रीहिः। वचनं संख्या – एकः, द्वौ, बहवः।

अर्थ – प्रातिपदिकार्थ मात्र, लिङ्गमात्र, परिमाणमात्र और वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। यहाँ पर मात्रे का अन्वय प्रत्येक के साथ होता है। सूत्रार्थ हुआ– प्रातिप्रदिकार्थ (व्यक्ति और जाति) मात्र में, परिमाण (वजन) मात्र में, लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग, नपुँसकलिङ्ग) मात्र में और वचन (एकत्व, द्वित्व, बहुत्व विशिष्ट संख्या) मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

व्याख्या – 'प्रातिपदिकार्थः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'लिङ्गम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'परिमाणम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'वचनम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। **समास** – प्रातिपदिकार्थश्च, लिङ्गश्च, प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण वचनमात्रम्; तस्मिन् प्रातिपदिकार्थलिङ्ग परिमाणवचनमात्रे सप्तम्यन्तं, प्रथमान्तं, द्विपदमिंद सूत्रम्। किसी शब्द का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नियत रूप से (बिना किसी व्यवधान के) होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं अथवा

शब्द से निश्चित वाच्यार्थ की उपस्थिति को 'प्रातिपदिकार्थ' कहते हैं। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र में अर्थवान् शब्द को प्रातिपदिक कहा गया है। उसी प्रातिपदिक के अर्थ (जाति, व्यक्ति) को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। यह प्रातिपदिकार्थ शब्द का वाच्यार्थ ही होता है। उपर्युक्त सूत्र में द्वन्द्व समास है और द्वन्द्व समास के अन्त में आया हुआ शब्द पूर्व के सभी पदों के साथ सम्बद्ध होता है। सूत्र में चार मानक निश्चित किये गये हैं– प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण और वचन। इन चारों के साथ अन्त में आये हुए 'मात्र' शब्द का योग होता है, (द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते) यह अर्थ हुआ।

अब सूत्रार्थ हुआ – प्रातिपदिकार्थ मात्र में, प्रातिपदिकार्थ होते हुए लिङ्गमात्र की अधिकता होने पर, प्रातिपदिकार्थ होते हुए परिमाणमात्र की अधिकता होने पर और प्रातिपदिकार्थ होते हुए संख्यामात्र की भी प्रथमा विभक्ति होती है। ध्यान रहे प्रातिपदिकार्थमात्र तो सब में रहता ही है। अब सभी का क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। यथा–

क) **प्रातिपदिकार्थमात्रे** – प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। किसी शब्द के उच्चारण करने पर नियत रूप से जिस अर्थ की उपस्थिति हो, ऐसे प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे – उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्, आदि। इनके उच्चारणमात्र से ही ऊपर, नीचे, भगवान् श्रीकृष्ण, लक्ष्मीजी और ज्ञान– ये अर्थ स्वतः बिना किसी बाधा के उपस्थित हो रहे हैं। अतः ये वहाँ प्रातिपदिकार्थ माने गये हैं और प्रातिपदिकार्थमात्र में इनमें प्रथमा विभक्ति का विधान हुआ।

ख) **लिङ्गमात्राधिक्ये** – कोई भी शब्द ऐसा नहीं है – जो केवल अपने लिङ्ग को ही कहे। अतः लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा होती है। अतः प्रकृत सूत्र में लिङ्गमात्र का ग्रहण प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र के आधिक्य के लिए है, जैसे – तटः, तटी, तटम्। यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र की अधिकता होने पर प्रकृत सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

ग) **परिमाणमात्रे** – परिमाणमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। आशय यह है कि जब किसी शब्द से प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाण (माप) अर्थ की प्रतीति हो तो उसमें प्रथमा विभक्ति होती है, यथा– 'द्रोणो व्रीहिः' (द्रोण रूप परिमाण से नापा हुआ धान)। वहाँ पर 'द्रोण' प्रातिपदिक से 'परिमाण-सामान्य' अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। द्रोण स्वयं 'परिमाण-विशेष' है। अतः परिमाण-सामान्य में प्रथमा विभक्ति होकर विशेष और सामान्य में अभेदान्वय हो जाता है। अब हो गया – 'द्रोणः'। 'द्रोणः' का 'व्रीहिः' से अन्वय होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव की प्रतीति होती है। परिच्छेदक 'द्रोणः' विशेषण और परिच्छेद्य 'व्रीहिः' विशेष्य है। अतः 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ हुआ – 'द्रोणरूप जो परिमाण, उससे नापा गया व्रीहि या धान। यहाँ 'द्रोणः' में प्रथमा परिमाणमात्र में हुई है।

घ) **वचनमात्रे** – 'वचन' का अर्थ संख्या है। अतः संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। उदाहरणार्थ – एकः, द्वौ, वहवः। यहाँ संख्या-मात्र अर्थ को घोतित करने के लिए प्रथमा विभक्ति होती है। यहाँ एक, द्वि, बहु स्वतः संख्या होते हुए भी इनसे संख्या अर्थ की अधिकता में प्रथमा विभक्ति हुई है, जिससे ये पद बन सकें। इन

तीनों शब्दों से प्रातिपदिकार्थमात्र होते हुए संख्यामात्र की विशेषता में 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' से प्रथमा विभक्ति हुई।

सूत्र – सम्बोधने च ।2।3।47।।

वृत्ति – प्रथमा स्यात्। हे राम!

अर्थ – 'सम्बोधने' सप्तमी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। इस सूत्र में प्रातिपदिकार्थलिङ्ग सूत्र से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति आती है। अब अर्थ हुआ – सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है। सम् = अभिमुखीकृत्य बोधनम् = ज्ञापनम् अर्थात् किसी व्यक्ति को (कुछ कहने के लिए) अपनी ओर अभिमुख करना ही 'सम्बोधन' कहलाता है। अतः भाव यह हुआ कि, ''प्रातिपदिकार्थ से सम्बोधन अर्थ की अधिकता होने पर प्रथमा विभक्ति होती है, यथा– हे राम! यहाँ 'राम' को अपनी ओर अभिमुख कर कुछ कहना है। यह अभिमुखीकरण ही 'सम्बोधन' होता हैं। उसमें प्रथमा विभक्ति 'सु' आयी। उसका 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' से लोप होकर हे राम! यह पद बना।

सूत्र – कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।1।4।49।।

वृत्ति –कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

अर्थ – कर्ता को क्रिया के द्वारा जो वस्तु अत्यन्त इष्ट होती है, उसकी (कारक की) कर्म संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'कर्तुः' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'ईप्सिततमम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कर्म' प्रथमा विभक्ति एकवचन। एक वाक्य में मुख्यतः कर्ता, कर्म, क्रिया का प्राधान्य होता है। वाक्य में 'कर्म' किसे कहें? यह जानने के लिए इस सूत्र की भावना की गयी है। सूत्र से स्पष्ट है कि कर्ता (अपनी) क्रिया के द्वारा जिसे सर्वाधिक चाहता है, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है या उसे कर्म कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्ता अपनी क्रिया द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है, उसे 'कर्म' कहते हैं, जैसे –देवदत्तः ओदनं पचति' (देवतत्त चावल पकाता है)। इस वाक्य में कर्ता 'देवदत्त' 'पचति' क्रिया के द्वारा 'ओदन' को विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है; अतः अत्यन्त अभीष्ट होने से 'ओदन' की 'कर्म' संज्ञा हुई।

सूत्र – कर्मणि द्वितीया ।2।3।2।।

वृत्ति – अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रथमा – हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या सेवितो हरिः।

अर्थ – अनभिहित (अनुक्त) कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है, यथा – हरिं भजति (हरि को भजता है)। अभिहित (उक्त) कर्म में तो (प्रातिपदिकार्थलिङ्ग. सूत्र से) प्रथमा विभक्ति ही होती है, यथा – 'हरि सेव्यते' (हरि की सेवा की जाती है), 'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' (लक्ष्मी के द्वारा हरि की सेवा की जाती है)।

व्याख्या – 'कर्मणि' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'द्वितीया' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनभिहिते' सप्तमी विभक्ति एकवचन। सूत्रार्थ है – (कर्मणि) कर्म में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ पर 'अनभिहिते 2/3/1' का अधिकार प्राप्त है। अतः पूर्ण

सूत्रार्थ हुआ – 'अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। 'अनभिहित' का अर्थ है – अनुक्त, जो न कहा गया हो। जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह उक्त होता है और उससे भिन्न अर्थ अनुक्त। यह उक्त अनुक्त होना पाँच हेतुओं पर आश्रित है। यथा– 1. तिङ्, कृत्, तद्धित, समास एवं निपात। इसका विस्तृत विवेचन 'सिद्धान्तकौमुदी' के कारक प्रकरण में देखना चाहिए। अब पुनः हम कह सकते हैं कि जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह अर्थ उक्त एवं तद्भिन्न अनुक्त होता है। जब 'कर्म' में लकार आता है तो 'कर्म' उक्त होता है और जब कर्त्ता में लकार आता है। तो कर्म अनुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में कर्मवाच्य में कर्म उक्त होता है और कर्तृवाक्य में कर्म अनुक्त। इसी कर्तृवाच्य में ही कर्म के अनुक्त होने पर उसमें द्वितीया होती है। यही सूत्र का फलितार्थ है। उदाहरणार्थ – 'देवदत्तः ओदनं पचति' में कर्तृवाच्य की क्रिया 'पचति' के द्वारा कर्त्ता 'देवदत्त' उक्त है और कर्म 'ओदन' अनुक्त। अतः अनुक्त कर्म 'ओदन' में 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर 'ओदनं' रूप बना।

किन्तु कर्मवाच्य में कर्म के उक्त होने पर उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अपितु 'प्रातिपदिकार्थ.' सूत्र से प्रथमा होती है, यथा– 'हरिः सेव्यते' में सेव्यते क्रिया कर्मवाच्य की है। अतः कर्म 'हरि' उक्त हुआ। अब उक्त कर्म 'हरि' में 'प्रातिपदिकार्थ.' सूत्र से प्रथमा विभक्ति एक वचन 'सु' होकर 'हरिः' पद बना। यही स्थिति 'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' में भी है।

सूत्र – अकथितं च ।1।4।51।।

वृत्ति – अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

''दुह्-याच्-पच्-दण्ड-रुधि प्रच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मथ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी ह्व-कृष्-वहाम्।।''

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तुण्डुलान् ओदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुवणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षम् अवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते-अभिधत्ते-वक्ति इत्यादि।

अर्थ – अपादानादि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा होती है। दुह् (दुहना), याच् (माँगना), पच् (पकाना), दण्ड् (दण्ड देना), रुध् (रोकना), प्रच्छ् (पूछना), चि (चुनना), ब्रू (कहना), शास् (उपदेश देना), जि (जीतना), मथ् (मथना), मुष् (चुराना), नी (ले जाना), ह्व (ले जाना), कृष् (खींचना), वह् (पहुँचाना) – इन सोलह धातुओं के प्रमुख = प्रधान कर्म से युक्त अपादान आदि विशेष संज्ञाओं की विवक्षा न होने पर 'कर्म' संज्ञा हो जाती है, यथा – 'गां दोग्धि पयः' इत्यादि में। यह इन सोलह की समानार्थक धातुओं में भी सम्भव है।

व्याख्या – 'अकथितम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्, 'कर्म' प्रथमा विभक्ति एकवचन, ('कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से)। यहाँ सूत्रार्थ केवल इतना है – (च) और (अकथितम्) अकथित। यहाँ सूत्रस्थ 'च' पद से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से 'कर्म' की अनुवृत्ति आती है। अतः अब सूत्रार्थ होगा – ''अपादानादि विशेषों से अविवक्षित कारक कर्म-संज्ञक

होता है।'' कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त सोलह धातुओं की दशा में यदि कर्ता अपादानादि को अपादानादि के रूप में न कहना चाहे, तो उनकी (अपादानादि की) 'कर्म' संज्ञा होती है।

यह स्थिति द्विकर्मक धातुओं में ही होती है। जिस वाक्य में इस 'अकथितं च' सूत्र की प्रवृत्ति होगी, उस वाक्य की धातु द्विकर्मक ही होगी। ऐसी द्विकर्मक धातुओं की संख्या सोलह है। दो कर्म होने से एक प्रधान कर्म होगा जिसे 'इष्टतम कर्म' कहते हैं और एक 'अप्रधान कर्म' होगा जिसे 'अकथित कर्म' कहते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि अपादानादि की कर्म संज्ञा भी होगी और पक्ष में विवक्षा होने पर अपादानादि संज्ञा भी कही जायेगी, जैसे – 'गां दोग्धि पयः'। यहाँ 'अकथितं च' से 'गो' की अपादान की अविवक्षा में' कर्म संज्ञा होकर 'गां' पद बना। किन्तु विवक्षा होने पर 'गोः दोग्धि पयः' ही बनेगा। अब इनके उदाहरण निम्नवत् हैं–

क) गां दोग्धि पयः – यहाँ पर 'गाय से दूध दुहता है' – ऐसा अर्थ निकलने के कारण 'गाय' अपादान कारक है, किन्तु उसकी विवक्षा न होने से 'अकथितं च' सूत्र द्वारा 'गो' की कर्म संज्ञा हुई और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति का विधान होकर 'गां' पद बना। यदि अपादान की विवक्षा होगी तो 'अपादाने पञ्चमी' से 'गो' में पञ्चमी विभक्ति होकर 'गोः दोग्धि पयः' ही बनेगा।

ख) बलिं याचते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी माँगता है) – यहाँ भी 'बलि' अपादान कारक है, किन्तु उसकी अविवक्षा होने पर पूर्ववत् कर्म संज्ञा होकर 'बलिम्' रूप बना।

ग) तण्डुलान् ओदनं पचति (चावलों से भात पकाता है) – यहाँ 'तण्डुल' करण कारक है, किन्तु करण की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई और बहुवचन में 'तण्डुलान्' रूप बना।

घ) गर्गान् शतं दण्डयति (गर्गों को सौ रूपये का जुर्माना करता है) – यहाँ 'गर्ग' अपादान कारक है किन्तु अपादान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा होकर 'गर्गान्' रूप बना।

ङ) व्रजम् अवरुणद्धि गाम् (बाड़े में गाय को रोकता है) – यहाँ पर 'व्रज' (बाड़ा) अधिकरण कारक है किन्तु अधिकरण की विवक्षा न होने पर पूर्ववत् कर्म-संज्ञा होकर 'व्रजम्' पद बना। ध्यान रहे कि कर्म-संज्ञा होने पर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर ही 'व्रजम्' रूप बनेगा।

च) 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' (ब्रह्मचारी बालक से मार्ग पूछता है) – यहाँ 'माणवक' अपादान कारक है किन्तु अपादान की विवक्षा न होने के कारण उसकी कर्म संज्ञा हुई और द्वितीया विभक्ति होकर 'माणवकम्' बना।

छ) वृक्षमवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को चुनता है) – यहाँ पर 'वृक्ष' अपादान है किन्तु अपादान की अविवक्षा से पूर्ववत् कर्म-संज्ञा होकर और द्वितीया विभक्ति लगकर 'वृक्षम्' बना।

ज) **माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा** (ब्रह्मचारी के लिए धर्म कहता है या उपदेश करता है)– यहाँ 'माणवक' सम्प्रदान कारक है उसकी अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

झ) **शतं जयति देवदत्तम्** (देवदत्त से सौ रूपये जीतता है) – यहाँ पर 'देवदत्त' अपादान कारक है किन्दु अपादान की अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

ञ) **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति** (समुद्र को अमृत के लिए मथता है) – यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि कुछ विद्वान् सुधा को प्रधान कर्म मानते है और कुछ लोग 'क्षीरनिधि' को। यदि 'सुधा' प्रधान कर्म होगा तो 'क्षीरनिधि' अपादान की 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होगी और यदि 'क्षीरनिधि' प्रधान कर्म होगा तो 'सुधा' सम्प्रदान की 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होगी। यहाँ दोनों ही दृष्टियों से विचार करना चाहिए।

ट) **देवदत्तं शतं मुष्णाति** (देवदत से सौ रूपये चुराता है) – यहाँ 'देवदत्त' अपादान कारक है किन्तु उसकी अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होने पर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर 'देवदत्तं' रूप बना।

ठ) **ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा** (गाँव में बकरी को ले जाता है, खींचता है या पहुँचाता है) – यहाँ ग्राम 'अधिकरण' कारक है किन्तु अधिकरण की अविवक्षा में 'अकथितं च' से 'ग्राम' की कर्म-संज्ञा हुई और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर – 'ग्रामम्' रूप सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त सोलह धातुओं की समानार्थक धातुओं में भी यही स्थिति होती है। 'याच्' की समानार्थक 'भिक्ष्' धातु के होने पर '**बलिं भिक्षते वसुधाम्**' में अपादान 'बलि' की कर्म संज्ञा हुई। 'ब्रू' की समानार्थक 'भाष्' धातु में –'**माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ति वा**' की स्थिति में 'माणवक' इस सम्प्रदान की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हुई और कर्म में द्वितीया विभक्ति होकर 'माणवकम्' रूप बना।

सूत्र – स्वतन्त्रः कर्ता ।1।4।54।।

वृत्ति – क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

अर्थ – क्रिया में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित अर्थ की 'कर्त्ता' संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'स्वतन्त्रः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कर्ता' प्रथमा विभक्ति एकवचन। 'कारके' का अधिकार पहले से ही आ रहा है। यह सूत्र ण्यन्त-प्रक्रिया में आ चुका है। क्रिया की सिद्धि में जो प्रधान होता है, जिसके बिना क्रिया असम्भव है, क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र है, उसी को कर्ता कहते हैं, जैसे – 'रामः ग्रामं गच्छति'। यहाँ कर्ता 'राम' गमन क्रिया (गच्छति) के प्रति स्वतन्त्र है। वह चाहे तो गाँव जाये और चाहे तो न जाये।

संज्ञासूत्र – साधकतमं करणम् ।1।4।42।।

वृत्ति – क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

अर्थ – क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक कारक की करण-संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'साधकतमम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'करणम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कारके ।1।4।23।।' इत्यधिकृतम्। सूत्रार्थ केवल इतना है कि – '(साधकतमम्) अत्यन्त सहायक (करणम्) करण कहलाता है। यहाँ 'कारके' सूत्र का अधिकार प्राप्त है। अतः भावार्थ हुआ – 'क्रिया की सिद्वि में अत्यन्त सहायक कारक की 'करण' संज्ञा होती है। जिसके व्यापार के ठीक बाद ही क्रिया की सिद्धि होती है, उसे 'अत्यन्त सहायक' कारक कहते हैं, यथा – 'रामेण बाणेन हतो बाली' (राम ने बाण से बाली को मारा, या राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया)। यहाँ राम के व्यापार के अनन्तर ही हनन क्रिया होती है। अतः अत्यन्त सहायक या प्रकृष्ट सहायक होने से 'बाण' की 'करण' संज्ञा हुई।

सूत्र – कर्तृकरणयोस्तृतीया ।2।3।18।।

वृत्ति – अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

अर्थ – अनभिहित (अनुक्त) कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है, यथा – 'रामेण बाणेन हतो बाली' (राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया)।

व्याख्या – 'कर्तृकरणयोः' सप्तमी विभक्ति द्विवचन, 'तृतीया' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनभिहिते' सप्तमी विभक्ति एकवचन, (अधिकृतम्)। सूत्र का अर्थ है – (कर्तृकरणयोः) कर्म और करण में तृतीया विभक्ति होती है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार सूत्र 'अनभिहिते ।2।3।1।। की अनुवृत्ति करनी होगी। इसका अन्वय सप्तम्यन्त पद 'कर्तरि' से होता है। अब सूत्र का भावार्थ हुआ – ''अनभिहित (अनुक्त) कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।'' यथा – 'रामेण बाणेन हतो बाली' (राम के बाण द्वारा बाली मारा गया)। यहाँ हनन क्रिया में स्वतन्त्र होने से 'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्र से **राम** कर्ता है। इसी प्रकार हनन क्रिया में अत्यन्त सहायक होने से 'साधकतमं करणम्' से बाण की करण संज्ञा हुई। यहाँ पर हन् धातु से कर्म अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होने से कर्म 'बाली' उक्त हुआ और कर्म के उक्त होने से कर्ता करण आदि स्वतः अनुक्त हो गये। अतः 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र से अनुक्त कर्ता 'राम' और अनुक्त करण 'बाण' दोनों में तृतीया विभक्ति होकर – 'रामेण' और 'बाणेन' प्रयोग बना।

संज्ञा सूत्र – कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।1।4।32।।

वृत्ति – दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

अर्थ – (कर्ता) दान-क्रिया के कर्म द्वारा जिससे सम्बन्ध स्थापित करता है या करना चाहता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'कर्मणा' तृतीया विभक्ति एकवचन, 'यम्' द्वितीया विभक्ति एकवचन, 'स' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सम्प्रदानम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, अभिप्रैति क्रिया पदम् प्रथम पुरुषैकवचनम्। यहाँ 'कारके' सूत्र का अधिकार है। यहाँ कर्म का अभिप्राय दानक्रिया के कर्म से है। इस प्रकार सूत्र का पूर्ण भावार्थ हुआ कि – ''दान क्रिया के कर्म के द्वारा कर्ता जिससे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसकी 'सम्प्रदान कारक' संज्ञा होती है, यथा – 'विप्राय गां ददाति' (ब्राह्मण को गाय देता है)।

यहाँ कर्ता (यजमान आदि) गोदान कर्म के द्वारा 'विप्र' से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अतः 'विप्र' की सम्प्रदान कारक संज्ञा हुई।

सूत्र – चतुर्थी सम्प्रदाने 2।3।13।।

वृत्ति – (अनुक्ते) सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात्। 'विप्राय गां ददाति'।

अर्थ – (अनुक्त) सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

व्याख्या – 'चतुर्थी' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सम्प्रदाने' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'अनभिहिते' सप्तमी विभक्ति एकवचन, (अधिकृतम्)। अनुक्त या अनभिहित सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा – '(यजमानः) **विप्राय** गां ददाति' यहाँ पर दान क्रिया (ददाति) के द्वारा अभिप्रेत 'विप्र' की 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा हुई और पुनः 'चतुर्थी सम्प्रदाने' सूत्र से 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'विप्राय' रूप बना।

सूत्र – नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-ऽलं वषड्योगाच्च ।2।3।16।।

वृत्ति – एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्, तेन 'दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः शक्तः' इत्यादि। इन्द्राय वषट्।

अर्थ – नमः, स्वस्ति, स्वाहा स्वधा, अलं, वषट् के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

व्याख्या – 'नमस्स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात्' पंचमी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्, 'चतुर्थी' प्रथमा विभक्ति एकवचन ('चतुर्थी सम्प्रदाने' से अनुवृत्ति)। यहाँ सूत्रस्थ 'च' पद से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपने आप में पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति आवश्यक है। अतः सूत्रार्थ होगा – ''नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (पर्याप्त, समर्थ) और वषट् – इन छः अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है'' अर्थात् जिन शब्दों से इन अव्ययों का योग होता है, उनमें चतुर्थी विभक्ति होती है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ चतुर्थी विभक्ति 'कारके' के अधिकार में नहीं होने के कारण 'उपपद विभक्ति' है। यह चतुर्थी विभक्ति 'नमः' आदि के योग में है। इनके उदाहरण निम्वत् हैं–

क) हरये नमः (हरि को नमस्कार है)– यहाँ 'नमः' के योग में 'हरि' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ख) प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो) – यहाँ पर 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ग) अग्नये स्वाहा (अग्नि को हविदान) – यहाँ पर 'स्वाहा' के योग में 'अग्नि' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

घ) पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिए आहुति है) – यहाँ पर 'स्वधा' के योग में 'पितृ' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ङ) दैत्येभ्यो हरिः अलम् (हरि दैत्यों के लिए पर्याप्त हैं) – यहाँ पर 'अलं' के योग में 'दैत्य' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ।

च) इन्द्राय वषट् (इन्द्र के लिए हवि है) – यहाँ 'वषट्' के योग में 'इन्द्र' में चतुर्थी हुई। ध्यातव्य बिन्दु यह है कि 'वषट्' का प्रयोग केवल वेदों में ही होता है।

नोट – यहाँ सूत्र में 'अलम्' से केवल 'अलम्' अव्यय का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु 'अलम्' अर्थवाचक 'समर्थः', 'शक्तः' आदि पदों का भी ग्रहण होता है। अतः इन पदों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा – 'दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः, समर्थः, शक्तो वा' में 'अलम्' अर्थवाची 'प्रभुः' आदि के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हुई है।

सूत्र – ध्रुवमपायेऽपादानम् ।1।4।24।।

वृत्ति – अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये यद् ध्रुवम् अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात्।

अर्थ – अलग होने या पृथक् होने को विश्लेष या 'अपाय' कहते हैं। अलग होने की प्रक्रिया में अवधिभूत (ध्रुव, स्थिर, अचल) कारक की अपादान संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'ध्रुवम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अपाये' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'अपादानम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कारके' सप्तमी विभक्ति एकवचन (इत्यधिकृतम्)। यहाँ पर 'कारके' का अधिकार प्राप्त है। 'ध्रुव' का अर्थ है – निश्चित, अचल, स्थिर जो अपने स्थान से हटे नहीं। अब सूत्र का पूर्ण भावार्थ होगा– ''अलग होने की प्रक्रिया में (जिससे कोई वस्तु या व्यक्ति अलग होता है, उस) ध्रुव, स्थिर या अचल कारक की अपादान संज्ञा होती है।'' दूसरे शब्दों में जिस वस्तु से कोई वस्तु अलग होती है, उसी की 'अपादान' संज्ञा होती है, यथा – 'रामः ग्रामाद् आयाति' (राम गाँव से आता है)। यहाँ पर 'राम' गाँव से आता है किन्तु 'गाँव' अपनी जगह स्थिर है। वह कहीं नहीं जाता। अतः स्थिर या अवधिभूत 'गाँव' की उक्त सूत्र से 'अपादान' संज्ञा हुई।

सूत्र – अपादाने पञ्चमी ।2।3।28।।

वृत्ति – ग्रामाद् आयाति। धावतोऽश्वात् पतति, इत्यादि।

अर्थ – अपादान (कारक) में पंचमी विभक्ति होती हैं।

व्याख्या – 'अपादाने' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'पञ्चमी' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कारके' सप्तमी विभक्ति एकवचन (अधिकृतम्)। यहाँ 'कारके' में पंचमी विभक्ति होती है।'' यथा– 'ग्रामाद् आयाति' {(वह) गाँव से आता है} – यहाँ अवधिभूत या स्थिर होने के कारण गाँव की 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' से अपादान संज्ञा हुई और 'अपादाने पञ्चमी' से पंचमी का प्रयोग होकर – 'ग्रामात्/ग्रामाद्' बना। इसी प्रकार 'धावतोऽश्वात् पतति' में अश्व के अपादान संज्ञक होने से उसकी अपादान संज्ञा हुई और 'अश्व' में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हुआ।

सूत्र – षष्ठी शेषे ।2।3।50।।

वृत्ति – कारक-प्रातिपदिकार्थ व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनाम् अपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो दकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः।

अर्थ – शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है अर्थात् कारक, प्रातिपदिक से भिन्न स्व.स्वामिभाव सम्बन्ध को 'शेष' कहते है और उसी शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है।

व्याख्या – 'षष्ठी' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'शेषे' सप्तमी विभक्ति एकवचन। यह सूत्र शेष अर्थ में षष्ठी का विधान करता है। शेष अर्थात् बचा हुआ। इस सूत्र से पहले प्रातिपदिकार्थ, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – इन सम्बन्धों को बताया गया है। इनमें क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी और सप्तमी विभक्ति का विधान है। जहाँ पर वे सम्बन्ध या संज्ञाएँ नहीं हुई हैं, वही शेष है। शेष कई प्रकार के सम्बन्धों से जुड़ा है, जैसे – स्व-स्वामिभावसम्बन्ध (एक स्वामी और दूसरी वस्तु), अवयवावयविभावसम्बन्ध (एक अंग और दूसरा अंगी), जन्यजनकभावसम्बन्ध (एक उत्पन्न करने वाला और दूसरा उत्पन्न होने वाला), प्रकृतिविकृतिभावसम्बन्ध (एक प्रकृति और दूसरी उससे होने वाली विकृति या विकार) आदि। ध्यातव्य बिन्दु यह है कि – ''प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थ प्रति प्राधान्यादप्रधानादेव षष्ठी' परिभाषा से अप्रधान (विशेषण) में ही षष्ठी विभक्ति होती है। इनके उदाहरण निम्नवत् हैं–

क) राज्ञः पुरुषः (राजा का आदमी) – यहाँ 'राजा' स्वामी है और 'पुरुष' स्व है। स्व-स्वामिभावसम्बन्ध मानकर 'राजन्' से षष्ठी विभक्ति हुई – राज्ञः पुरुषः।

ख) मम गृहम् (मेरा घर) – यहाँ पर **मैं** 'स्वामी' हूँ और **मेरा घर** 'स्व' है। यहाँ पर भी पूर्ववत् स्व-स्वामिभावसम्बन्ध में 'अस्मत्' शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई – 'मम' बना।

ग) वृक्षस्य शाखा (वृक्ष की डाल) – यहाँ डाल 'अवयव' है और वृक्ष 'अवयवी'। अवयवावयविभावसम्बन्ध मानकर 'वृक्ष' में षष्ठी होकर – 'वृक्षस्य' बना।

घ) पितुः पुत्रम् (पिता का पुत्र) – यहाँ पर पिता 'जनक' है और पुत्र 'जन्य'। जन्यजनकभावसम्बन्ध मानकर 'पितृ' शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर – 'पितुः' बना।

ङ) सुवर्णस्य कङ्कणम् (सोने का कंगन) – सोना 'प्रकृति' है, उससे बना हुआ कंगन उसकी विकृति' या 'विकार' है। तो, प्रकृतिविकृतिभावसम्बन्ध में 'शेषे षष्ठी' से 'सुवर्ण' में षष्ठी विभक्ति होकर 'सुवर्णस्य' बना।

कर्म आदि कारकों की सम्बन्ध मात्र विवक्षा में भी षष्ठी विभक्ति ही होती है। भाव यह है कि यदि सम्बन्ध मात्र ही को दिखाना हो तो, कर्म आदि कारकों में भी षष्ठी विभक्ति ही होती है, यथा–

क) सतां गतम् – (सत्पुरुष-सम्बन्धि-गमन) – यहाँ पर कर्ता 'सत्' की सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठ्यन्त भावना होकर 'सतः' पद बना।

ख) 'सर्पिषो जानीते' – (घी के द्वारा प्रवृत्त होता है) – यहाँ पर भी सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में करण कारक 'सर्पिष' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

ग) मातुः स्मरति – (माता-सम्बन्धी स्मरण करता है) – यहाँ पर कर्म-कारक 'मातृ' में सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

घ) 'एधोदकस्योपस्कुरुते' – (लकड़ी जल-सम्बन्धी गुणों को धारण करती है) – यहाँ पर पूर्ववत् कर्म कारक 'एध्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

ङ) **भजे शम्भोश्चरणयोः** (शम्भु के चरणों को भजता हूँ) – यहाँ पर भी सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में कर्म कारक 'चरण' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

सूत्र – आधारोऽधिकरणम् ।1।4।45।।

वृत्ति – कर्तृ-कर्म-द्वारा तन्निष्ठ-क्रियाया आधारः कारकम् अधिकरणं स्यात्।

अर्थ – कर्ता और कर्म के द्वारा कर्तृ और कर्मनिष्ठ क्रिया का आधारभूत कारक 'अधिकरण' संज्ञक होता है।

व्याख्या – 'आधारः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अधिकरणम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कारके' सप्तमी विभक्ति एकवचन, (इत्यधिकृत्य)। 'कारके' का यहाँ अधिकार प्राप्त है। उसका विभक्ति विपरिणाम होकर 'कारकम्' बनता है। आधार का अर्थ है– 'आश्रय'। किसका आश्रय? ऐसी आकांक्षा होने पर 'क्रियायाः' का अध्याहार किया जाता है। 'क्रिया का आधार' यहाँ कर्ता या कर्म के द्वारा उनमें रहने वाली क्रिया का आधार समझा जाता है। इस प्रकार भावार्थ हुआ, ''कर्ता या कर्म के द्वारा कर्तृनिष्ठ या कर्मनिष्ठ जो क्रिया का व्यापार या फल है, उसके आधार कारक की अधिकरण संज्ञा होती है'' अर्थात् जिसमें क्रिया अधिष्ठित होती है, उसे 'आधार' कहते हैं। उसी आधार की 'अधिकरण कारक' संज्ञा होती है। यह आधार तीन प्रकार का होता है, यथा–

1) **औपश्लेषिक आधार** – उप = समीपे, शलेषः संयोगादिसम्बन्ध उपश्लेषः। उपश्लेष एव औपश्लेषिकः। जहाँ आधेय के साथ आधार का संयोगादि सम्बन्ध हो, उसे 'औपश्लेषिक आधार' कहते हैं, यथा– 'कटे आस्ते' (चटाई पर है)। यहाँ पर 'कट' से बैठने वाले का प्रत्यक्ष संयोग (भौतिक) सम्बन्ध है। अतः 'कट' यहाँ 'औपश्लेषिक आधार' है।

2) **वैषयिक आधार** – विषय का अर्थात् विषयता-सम्बन्ध से आधार। यह आधार बुद्धिस्थ होता है। उसके साथ आधेय का बौद्धिक सम्बन्ध होता है, जैसे– 'मोक्षे इच्छास्ति' (मोक्ष के विषय में इच्छा है)। यहाँ 'मोक्ष' वैषयिक आधार है क्योंकि यह इच्छा का विषय है। इसी प्रकार – 'व्याकरणे रुचिः', 'नारायणे भक्तिः' आदि में भी समझना चाहिए।

3) **अभिव्यापक आधार** – जिसके साथ आधार का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है उसे 'अभिव्यापक आधार' कहते हैं, उदाहरणार्थ– 'तिलेषु तैलम्' (तिलों में तैल है)। यहाँ 'तिल' अभिव्यापक आधार है क्योंकि उसके सभी अवयवों में तैल है। इसी प्रकार– 'र्स्वस्मिन्नात्मास्ति' (सब में आत्मा है)। यहाँ 'सर्व' अभिव्यापक आधार है। इन तीनों प्रकार के आधारों को 'अधिकरण' कहते हैं।

सूत्र – 'सप्तम्यधिकरणे च' ।2।3।36।।

वृत्ति – अनभिहिते अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिकः वैषयिकः अभिव्यापकश्च इति आधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा।

अर्थ – अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। (च) और दूर तथा समीप अर्थवाचक शब्दों से भी।

व्याख्या – 'सप्तमी' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अधिकरणे' सप्तमी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। यहाँ पर सूत्र में स्थित 'च' पद से ही स्पष्ट है कि यह सूत्र पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' 2.3.35 से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा – ''अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है; और दूर तथा अन्तिक (निकट) अर्थवाचक शब्दों से भी (सप्तमी विभक्ति होती है)। दूसरे शब्दों में, अधिकरण और दूर तथा समीप अर्थवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है।'' उदाहरणार्थ– 'कटे आस्ते' (चटाई पर है) में 'कट' आधार होने से अधिकरण है; अतः 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र से उसमें सप्तमी विभक्ति होकर 'कटे' रूप बना। इसी प्रकार 'स्थाल्यां पचति' (बटलोई में पकाता है) में अधिकरण 'स्थाली' में सप्तमी विभक्ति होकर 'स्थाल्याम्' बना। 'मोक्षे इच्छास्ति' (मोक्ष विषय इच्छा है) में अधिकरण 'मोक्ष' में, 'सर्वस्मिन्नात्मास्ति' में अधिकरण 'सर्व' में सप्तमी विभक्ति होकर 'मोक्षे' और 'सर्वस्मिन्' रूप बने। 'दूर' तथा 'समीप' अर्थवाचक शब्दों का उदाहरण– 'वनस्य दूरे अन्तिके वा' (वन से दूर या निकट)। यहाँ दूर अर्थवाचक 'दूर' तथा 'समीप' अर्थवाचक शब्दों का उदाहरण– 'वनस्य दूरे अन्तिके वा' (वन से दूर या निकट)। यहाँ दूर अर्थवाचक 'दूर' तथा समीप अर्थवाचक 'अन्तिक' शब्द में सप्तमी विभक्ति होकर 'दूरे' और 'अन्तिके' रूप बने।

1. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए –

i) कारक हैं –

(अ) पाँच, (ब) सात, (स) छः, (द) नौ

ii) प्रातिपदिकार्थ है –

(अ) विकल्प से उपस्थिति (ब) नियत उपस्थिति

स) अनियत उपस्थिति (द) अनुपस्थिति

iii) उक्त कर्म में होती है –

(अ) प्रथमा (ब) द्वितीया

(स) पञ्चमी (द) तृतीया

iv) 'स्वस्ति' के योग में विभक्ति होती है–

(अ) तृतीया (ब) द्वितीया

(स) पञ्चमी (द) चतुर्थी

V) 'नारायणे भक्तिः' में है–

(अ) वैषयिक आधार, (ब) औपश्लेषिक आधार,

(स) अभिव्यापक आधार (द) कोई नहीं

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

क) स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध में ..... होती है।

ख) 'तिलेषु तैलम्' में ..... है।

ग) 'नमः' पद के योग में ..... होती है।

घ) अप्रधान कर्म को ..... कहते हैं।

ङ) आधार के साथ आधेय का संयोग सम्बन्ध ..... कहलाता है।

3. **नीचे दिए गए प्रश्नों में से सही/गलत कथन का चयन कीजिए –**

क) अनुक्त कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है – (सही/गलत)

ख) 'वृक्षस्य शाखा' में स्व–स्वामिभाव सम्बन्ध है – (सही/गलत)

ग) षष्ठी विभक्ति अप्रधान में होती है – (सही/गलत)

घ) सम्बोधन में द्वितीया विभक्ति होती है – (सही/गलत)

4. **निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।**

क) कारक कितने हैं? उनके नाम लिखिए।

ख) अभिव्यापक आधार की परिभाषा और उदाहरण लिखिए।

ग) कारक किसे कहते हैं?

घ) करण संज्ञा को स्पष्ट कीजिए।

ङ) 'अलम्' के योग में' कौन-सी विभक्ति होती है?

अभ्यास प्रश्न

क) 'प्रातिपदिकार्थ' को स्पष्ट कीजिए।

ख) कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

ग) अधिकरण किसे कहते हैं? स्पष्ट कीजिए।

घ) प्रधान कर्म और अकथित कर्म में भेद स्पष्ट कीजिए।

ङ) सम्बन्ध को कारक क्यों नहीं माना जाता? बताइए।

च) पञ्चमी विभक्ति के पाँच उदाहरण लिखिए।

छ) 'कारक' पर 100 शब्दों में निबन्ध लिखिए।

ज) आधार के तीनों भेदों की व्याख्या कीजिए।

झ) अवधिभूत का क्या अर्थ है?

ञ) 'शेष' शब्द से क्या अभिप्राय है?

3.3 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के विधिवत् अध्ययन से आप सातों विभक्तियों एवं छः कारकों के बीच सम्बन्धों को विधिवत् समझ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में कारक एवं विभक्ति के लक्षण को स्पष्ट रूप से बनाया गया है। साथ ही 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग परिमाण वचनमात्रे प्रथमा' सूत्र से लेकर 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र पर्यन्त सभी सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या एवं तद्वत उदाहरण विस्तृत रूप से समझाये गये हैं। कारक विभक्ति एवं उपपद विभक्ति में भेद स्पष्ट किया गया हैं उक्त-अनुक्त के विषय में बताया जा चुका है। प्रधान कर्म एवं अकथित कर्म के विषय में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई का विधिवत् अध्ययन करके आप कारक एवं विभक्ति के स्वरूप को जान चुके हैं।

3.4 शब्दावली

प्रातिपदिकार्थ – किसी शब्द का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की उपस्थिति नियत रूप से (बिना किसी व्यवधान के) होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। यह मुख्यतः 'जाति' और 'व्यक्ति' भेद से दो हैं।

विवक्षा – 'कर्तुरिच्छा विवक्षा' अर्थात् कर्ता की इच्छा ही 'विवक्षा' कहलाती है। 'विवक्षा' अन्य कारकों का आधार है इसीलिए कहा जाता है– ''विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।'' वक्ता जिस भाव से किसी वस्तु को प्रस्तुत करना चाहता है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे तो – 'अग्निः पचति' कहे या अग्निना पचति'।

कारक – क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला, क्रिया का जनक या क्रिया की सिद्धि करने वाला तत्त्व 'कारक' कहलाता है।

विभक्ति – 'विभक्ति' वह तत्त्व है, जिससे संख्या (वचन) और कारक का ज्ञान होता है।

अनभिहित – 'अनभिहित' का अर्थ है– 'अनुक्त'। जिस अर्थ (कर्ता, कर्म, भाव में से किसी एक में) में लकार होता है, वाक्य में वह 'उक्त' होता है, शेष 'अनुक्त' या 'अनभिहित'।

अकथित – 'अकथित' का अर्थ है– 'अविवक्षित'। यदि किसी पदार्थ को कर्ता तद्वत् न कहना चाहे, तो वह पदार्थ कर्ता के लिए 'अकथित' होता है जैसे– कर्ता सम्प्रदान को सम्प्रदान के रूप में न कहना चाहे, तो उसकी कर्म संज्ञा होती है। ऐसे कर्म को 'अकथित कर्म' कहते हैं।

3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वरदराजाचार्य, मूल लघुसिद्धान्तकौमुदी. गोरखपुर, गीताप्रेस.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ गोविन्दाचार्य. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, चौखम्भा सुरभारती.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, धरानन्द. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या॰ शास्त्री, भीमसेन. लघुसिद्धान्तकौमुदी. (भाग–1–6), दिल्ली, भैमी प्रकाशन.

शास्त्री, चारुदेव. व्याकरण चन्द्रोदय. (भाग–1–3), दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

वरदराजाचार्य, सम्पा॰ एवं हिन्दी सिंह, सत्यपाल. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, शिवालिक पब्लिकेशन.

3.6 बोध /अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

1. (i) (स) छः, (ii) (ब) नियत उपस्थिति, (iii) (अ) प्रथमा (iv) (द) चतुर्थी (v) (अ) वैषयिक आधार।

2. (क) षष्ठी विभक्ति, (ख) अभिव्यापक आधार, (ग) चतुर्थी विभक्ति, (घ) अकथित कर्म, (ङ) औपश्लेषिक आधार।

3. (क) गलत, (ख) गलत, (ग) सही, (घ) गलत।

4. (क) 'कारक' छः हैं– 1. कर्त्ता, 2. कर्म, 3. करण, 4. सम्प्रदान, 5. अपादान और 6. अधिकरण।

   (ख) जहाँ अवयवी के समस्त अवयवों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हो, वह अभिव्यापक आधार होता है, जैसे – 'तिलेषु तैलम्'।

   (ग) जो क्रिया से सन्बन्ध हो, क्रिया का जनक हो या क्रिया का साधक हो उसे कारक कहते हैं।

   (घ) क्रिया की सिद्धि में जो सर्वाधिक उपकारक होता है, उसे करण कहते हैं। जैसे– 'बाणेन हतः' (बाण से मारा गया) – वहाँ 'बाण' हनन क्रिया में साधकतम (सर्वाधिक उपकारक) है; अतः 'करण' है।

   (ङ) 'अलम्' के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है– 'हरिः दैत्येभ्यो अलम्'।

अभ्यास प्रश्न

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY